हृदय प्रदीप

(भाग-1)

विवेचनकार :-
पू.आ.रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

हृदय प्रदीप

भाग-1

–: हिन्दी-विवेचन :–

परम शासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति
दीक्षा युग प्रवर्तक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. के
तेजस्वी शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान् योगी, भावाचार्य तुल्य
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के
कृपापात्र चरम शिष्यरत्न, सरस्वती नंदन, गोड़वाड़ के गौरव,
जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.
एवं उनके शिष्यरत्न, नवोदित लेखक
मुनिश्री स्थूलभद्रविजयजी म.सा.

271

卐 **प्रकाशन** 卐
दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ.एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 260/- रुपये • **प्रतियाँ :** 750
विमोचन तिथि : 31-3-2026
विमोचन स्थल : प्रवचन मंडप, सुमेरपुर, (राज.)
• **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डिंग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

दीक्षा युग प्रवर्तक, महाराष्ट्र देशोद्धारक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न, बीसवीं सदी के महान योगी, नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक चिंतक एक अनुप्रेक्षक, निःस्पृह शिरोमणि, प्रशांतमूर्ति, भावाचार्य तुल्य **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न सरस्वती नंदन, मरुधर रत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के संयम सुवर्ण वर्ष में चैत्र मास की नवपद शाश्वत नवपद ओली के पवित्र दिनों में पूर्वाचार्य विरचित **'हृदय प्रदीप'** ग्रंथ के हिन्दी विवेचन को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

पूज्य आचार्य भगवंत द्वारा हिन्दी भाषा में **आलेखित यह 266-267 वीं पुस्तक** है । अपने गुरुदेवश्री के शुभाशीर्वाद से प्रारंभ हुई उनकी यह साहित्य यात्रा आज भी निराबाध गति से चल रही है ।

हमें आत्म विश्वास है कि हिन्दी भाषा में प्रकाशित इस ग्रंथ का विवेचन खूब लोकप्रिय एवं लोकोपकारी बनेगा ।

लेखक की कलम से...

आज से ठीक 3 वर्ष पूर्व वि.सं. 2080 फाल्गुण मास में कामसेट में अंजन शलाका-प्रतिष्ठा का महोत्सव चल रहा था, उस समय बात ही बात में **मु.श्री हेमतिलकविजयजी म.सा.** ने विनती करते हुए कहा, **'हृदय प्रदीप'** ग्रंथ पर हिन्दी भाषा में विस्तृत विवेचन तैयार करने जैसा है ।

उनकी उस विनती को ध्यान में रखकर एक शुभ दिन मंगल घडी में इस ग्रंथ पर हिन्दी विवेचन का लेखन प्रारंभ किया । **अर्हद् दिव्य संदेश** के प्रत्येक अंक में 1-1 श्लोक पर यह विवेचन प्रकाशित होता रहा । अन्य अन्य कार्यों की व्यस्तता के कारण मेरे मार्गदर्शन के अनुसार सुविनीत शिष्य **मु.श्री स्थुलभद्रविजयजी म.सा.** ने इस कार्य को गति प्रदान की, जिसके फल स्वरुप आज यह ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित हो रहा है ।

इस भवचक्र में राजा-महाराजा व अन्य पदों की प्राप्ति होना तो भी सुलभ है परंतु सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य भाव पैदा होना खूब कठिन है ।

रत्नत्रयी की आराधना-साधना का मूल वैराग्य भाव है । इसके अभाव में आत्मा को सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति नहीं होती है । सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की प्राप्ति भी शक्य नहीं है ।

ठीक ही कहा है–**'समकित विण चारित्र नहीं और चारित्र विण नवि मुक्ति रे ।'** छह खंड के साम्राज्य का त्याग करना सुलभ है, यदि मन के भीतर वैराग्य की ज्योत प्रज्वलित हो जाय ।

संसार के त्याग से भी अधिक दुर्लभ है संसार से विरक्ति । विरक्ति के अभाव में किया गया संसार का त्याग भी संसार वृद्धि का कारण बन सकता है । त्याग के मूल में वैराग्य खूब जरुरी है । वैराग्य को पुष्ट करने का मुख्य साधन है–वैराग्य पोषक ग्रंथों का स्वाध्याय ।

–वैराग्य से दीक्षा अंगीकार करने के बाद भी उस वैराग्य की ज्योत को जीवन के अंतिम सयम तक टिकाए रखने के लिए वैराग्य पोषक ग्रंथों का स्वाध्याय, चिंतन-खूब जरुरी है ।

–भागवती-दीक्षा अंगीकार करने के बाद यदि वैराग्य की ज्योत बुझ जाती है तो उत्साह से ग्रहण किया संयम भी भारभूत लगता है, फिर संयम से विमुख आत्मा या तो पुनः गृह-आवास का स्वीकार कर देती है अथवा घसिट-घसिट कर अपने जीवन को पूर्ण करती है ।

–वैराग्य के बिना संयम जीवन भी शुष्क हो जाता है उन महान क्रियाओं में आनंद व उत्साह समाप्त हो जाता है ।

–देव दुर्लभ ऐसे महान संयम जीवन को प्राप्त कर अपने संयम के लाभ को खो न दे इस हेतु संयम में निरंतर वैराग्य पोषक ग्रंथों का स्वाध्याय व पठन-पाठन होना चाहिए ।

भूतकाल में हुए अनेक महापुरुषों ने वैराग्य पोषक ग्रंथों का सर्जन किया है ।

जिनमें प्राकृत भाषा में वैराग्य शतक, इन्द्रिय-पराजय शतक, संबोध सित्तरि आदि मुख्य है तो संस्कृत भाषा में शांत सुधारस, वैराग्य मंजरी, हृदय-प्रदीप आदि ग्रंथ मुख्य है । **प्राकृत-संस्कृत भाषा में विरचित उन ग्रंथों पर अनेक महापुरुषों ने टीकाओं की रचनाकर ग्रंथकार महर्षि के हृदयगत भावों को खोलने का प्रयास किया है ।**

किसी अज्ञात पूर्वाचार्य द्वारा विरचित **'हृदय-प्रदीप'** ग्रंथ पर बहुत ही कम टीकाएं उपलब्ध है ।

वर्तमान में श्वे.मू.जैन संघ का सबसे बडा दुर्भाग्य है कि आज श्रावक-श्राविका संघ में से संस्कृत-प्राकृत भाषा लुप्त-प्रायः हो गई है और इसी का यह कटु परिणाम है कि भूतकाल में अनेक पूर्वाचार्य महर्षियों ने सैकडों-हजारों संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों का सर्जन किया होने पर भी भाषा बोध के अभाव के कारण वे सभी ग्रंथ **'भैंस के आगे भागवत'** जैसे हो गए है ।

उन अनमोल ग्रंथ के भावों से भावि पीढी लाभान्वित हो, उस लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन ग्रंथों का प्रांतीय भाषाओं में विवेचन होना खूब जरुरी है ।

– **'हृदय-प्रदीप'** ग्रंथ पर गुजराती भाषा में अनेक विवेचन उपलब्ध हैं, परंतु हिन्दी भाषा में एक भी विवेचन उपलब्ध नहीं है ।

वात्सल्य के महासागर **स्व. पूज्यपाद गुरुदेव पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की निरंतर बरस रही कृपा वृष्टि के फल स्वरुप ही यह विवेचन तैयार हुआ है, इसमें जो कुछ भी शुभ है, उसके यश के भागी तो वे ही है ।

छद्मस्थता वश ग्रंथकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी आलेखन हुआ हो तो उसके लिए अंतःकरण से क्षमा याचना करता हूँ ।

मीठी माँ आराधना भवन
बाली,
जिला. पाली. (राज.)
दि. 02-02-2026

परमोपकारी परम गुरुदेव
अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी
गणिवर्य कृपाकांक्षी
आ. रत्नसेनसूरि म.सा.

Introduction

विवेचनकार का संक्षिप्त-जीवन परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्म तिथि	: भादो सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षा दाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी पू. पंन्यास **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षा दिन	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आ. **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षा दिन विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 ऊपर दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में ।

- **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि ।
- **भाषा बोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि ।
- **प्रथम प्रवचन प्रारंभ :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात) ।
- **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038 ।

- **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक तामिलनाडू आदि ।
- **पादविहार :** लगभग 49,000 कि.मी. ।
- **अंजन शलाका एवं प्रतिष्ठायें :** मंड्या (कर्णाटक) वलवण, कामसेट, भायंदर (महा.) राजपुरा, भोपाल सागर, राजसमंद भारुंदा (राज.) आदि में अंजनशलाका प्रतिष्ठा, भायखला (वे.), कल्याणी नगर (पूणे), जयपुर (राज.) में प्रतिष्ठा बेंगलोर में 3 गृह जिनालय, पूना तथा कोयम्बत्तुर में एक-एक गृह जिनालय प्रतिष्ठा ।
- **(छ'री पालित संघ में मार्गदर्शन-प्रवचन) :** बरलूट से शत्रुंजय, गोदन से जैसलमेर, वल्लभीपुर से पालीताणा, लुणावा से राणकपुर पंचतीर्थी ।
- **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय होकर गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ, सेवाडी से राणकपूर पंचतीर्थी, बेंगलोर से सुशीलधाम, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी, उदयपुर से दयालशा किल्ला ।
- **प्रथम पुस्तक आलेखन :** **''वात्सल्य के महासागर''** वि.सं.संवत् 2038 ।
- **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 267 ।
- **शिष्य-प्रशिष्य : स्व.मु. श्री उदयरत्नविजयजी म.,**
  स्व.मुनि श्री केवलरत्नविजयजी म.,
  स्व.मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी म.,
  मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी म., मुनि श्री शालिभद्रविजयजी म.,
  मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म., स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी म.,
  मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म., मुनि श्री निर्वाणभद्रविजयजी म.
  मुनि श्री पुण्यबलविजयजी म.
- **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, नेर (महा.), येरवडा (पूना), आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना (कल्याण), पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव), नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम (मुंबई), लोढा धाम (मुंबई), सुखधाम (राज.), महावीर जैन विद्यालय-उदयपुर ।
- **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, विक्रम संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।
- **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, विक्रम संवत् 2061,
  दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।
- **आचार्य पदवी :** पोष वदी-1, विक्रम संवत् 2067, दि. 20-1-2011 थाणा ।

अनुक्रमणिका

नं.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	अनुभव ज्ञान की महत्ता	1
2.	तत्त्व चिंतन की आवश्यकता	8
3.	सिद्धि हेतु आवश्यक पदार्थ	14
4.	वैराग्य के कारण	23
5.	मानव देह की सार्थकता	31
6.	देहममत्व त्याग	39
7.	धन का ममत्व त्याग	47
8.	भौतिक सुख, दुःख रुप है	55
9.	गुरुकृपा से अनित्यता का बोध	62
10.	विवेक ज्ञान की आवश्यकता	70
11.	'आत्मानुभव के तीन लक्षण'	79
12.	परचिन्ता छोडे	88
13.	मुर्खता से बचने का उपदेश	97
14.	कामवासना अतिबलवान है	108
15.	आत्मा का भयंकर शत्रु, मोह	116
16.	दिशा बदलने की जरुरत है	123
17.	भौतिक सुख ही दुःखों का मूल है	130
18.	भोगी और योगी की भेद रेखा	138

अनुभव ज्ञान की महत्ता

शब्दादिपञ्चविषयेषु विचेतनेषु,
योऽन्तर्गतो हृदि विवेककलां व्यनक्ति ।
यस्माद् भवान्तरगतान्यपि चेष्टितानि,
प्रादुर्भवन्त्यनुभवं तमिमं भजेथाः ॥1॥ (वसंततिलका)

शब्दार्थ

शब्दादि पञ्चविषयेषु=पांच इन्द्रिय के विषयों में,
विचेतनेषु=जड,
यो=अनुभवज्ञान,
अन्तर्गतः=भीतर में रहे,
हृदि=हृदय में,
विवेककलां=हेय-उपादेय का ज्ञान,
व्यनक्ति=प्रकट करता है ।
यस्माद्=अनुभव से,
भवान्तरगतान्यपि=पिछले जन्मों में हुई,
चेष्टितानि=चेष्टाएँ,
प्रादुर्भवन्ति=प्रकट होती है,
अनुभवं=अनुभव ज्ञान को,
तमिमं=वह इसे,
भजेथाः=आसेवन करो ।

गाथार्थ

हृदय के भीतर रहा जो अनुभवज्ञान है, वह जड ऐसे शब्दादि पांच इन्द्रियों के विषय में विवेक बुद्धि उत्पन्न करता है, उस अनुभव ज्ञान से पिछले जन्मों में हुई सद्–असद् चेष्टाएँ प्रकट होती है, उस अनुभव ज्ञान का आसेवन करो (प्राप्त करो) ।

विवेचन

तारक तीर्थंकर परमात्मा जगत् के जीवों के कल्याण के लिए धर्मशासन की स्थापना करते है और अपनी धर्मदेशना द्वारा जगत् के जीवों को मोह के चंगुल में से मुक्त बनने का मार्ग बताने है ।

जगत् के अधिकांश जीव मोह के अधीन अर्थात् मोह के गुलाम है ।

मोह का कार्य आत्मा को भ्रमित करना है । मोहाधीन आत्मा को उल्टा ही पसंद पडता है । जिस प्रकार शराब के नशे में चकचूर व्यक्ति को सत्य तत्त्व का भाव नहीं होता है । वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानता है । उसी प्रकार मोहाधीन आत्मा को, जो सुख का मार्ग हैं, वह दु:ख का मार्ग लगता है और जो दु:ख का मार्ग है, वह सुख का मार्ग लगता है ।

नशे में चकचूर व्यक्ति गंदे नाले में गिरा हो तो भी उसे लगता है कि वह डनलप की गद्दी पर सोया है । कुत्ता आकर उसके मुंह में पेशाब कर देता हैं तो वह मानता है कि मैं पेप्सी पी रहा हूँ ।

मोह के उदय के कारण समान जातिवाले जीव तत्त्व के प्रति द्वेष भाव पैदा होता है और असमान जातिवाले जड तत्त्व के प्रति राग भाव पैदा होता है ।

जहां जड का प्रेम है, वहां पौद्गलिक सुखों के प्रति राग होता है और जहां जीव के शुद्ध स्वरुप का प्रेम है, वहां आत्मा के स्वाभाविक सुख का आकर्षण होता है ।

भवाभिनंदी आत्मा पुद्गलानंदी होती हैं अर्थात् वह पुद्गल में से सुख पाने की कोशिश करती है ।

जो आत्मानंदी हैं, वह आत्मा के सहज गुणों को पाने की कोशिश करती है ।

भूतकाल में अनेक पूर्वाचार्य महर्षियों ने हमारी सोई हुई चेतना को जागृत करने के लिए अनेक धर्मग्रंथों की रचना की है ।

ग्रंथ रचना के पीछे भी उनका उद्देश्य अंतर आत्मा में रही हुई भाव-करुणा ही है ।

मोह की विडंबना के कारण जगत् के जीवों की दुर्दशा को देखकर उनका अन्तर्मन करुणा से भर आता है और वे गद्‌गद हृदय से मोहाधीन आत्माओं को प्रेरणा का पीयूष पान करते है ।

भूतकाल में हुए कई महापुरुषों ने स्वरचित अपनी रचना के अंत में अपने नाम का निर्देश किया है तो कई बार उन महापुरुषों ने अपने नाम को गुप्त भी रखा है ।

प्रस्तुत कृति भी अज्ञातकर्तक है अर्थात् ग्रंथ रचनाकार ने अपने नाम का कहीं भी नाम निर्देश नहीं किया है ।

नाम तो देह का होता है, देही का नहीं, क्योंकि देह के भीतर रही आत्मा तो अनामी है । अनामी बनने की चाहना हो, भूख हो, उसे नाम का आकर्षण भी कैसे हो सकता है ? बस, इसी पवित्र आशय को लक्ष्य में रखकर ग्रंथकार ने अपना नाम प्रकट नहीं किया है ।

सचमुच, **'हृदय प्रदीप'** की यह लघुकाय रचना सुषुप्त चेतना को जागृत करने के लिए घंटनाद समान है ।

ग्रंथ के प्रत्येक श्लोक में जिनागमों का नवनीत संग्रहित है ।

आत्मा के भीतर रहे मोह तथा अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए यह छोटासा ग्रंथ प्रदीप के समान हैं, इसलिए इस ग्रंथ का नाम **हृदय-प्रदीप** रखा गया है ।

'हृदय-प्रदीप' के 36 श्लोक 36 ज्योत समान है । जो आत्मा के भीतर रही अज्ञानता को दूर करते है और आत्मा में सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रकाशित करते है । ग्रंथकार महर्षि पहले श्लोक में सुंदर प्रेरणा देते हुए कहते है कि, `हे पुण्यात्मन् ! तुम अपने भीतर रहे अनुभव ज्ञान को प्रकट करो ।

अनुभवज्ञान अर्थात् भावना ज्ञान । भावनाज्ञान के पूर्व श्रुतज्ञान और चिंताज्ञान चाहिए ।

श्रुतज्ञान व चिंताज्ञान कारण है तो भावनाज्ञान कार्य है ।

श्रुतज्ञान स्वरुप शास्त्र के श्रवण व अभ्यास बिना चिंताज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है और चिंताज्ञान के बिना भावनाज्ञान संभव नहीं है ।

आत्मा में भावनाज्ञान प्रकट होने पर आत्मा और देह के भेदज्ञान का विवेक पैदा होता है, जिसके फलस्वरुप उसे आत्म-तत्त्व पर रुचि और आत्मा से भिन्न जड पदार्थों के प्रति अरुचि अर्थात् वैराग्यभाव पैदा होता है ।

मोह के कारण ही जीवात्मा को जड पदार्थ के शब्द, रुप, रस, गंध और स्पर्श रुप इन पांच विषयों का आकर्षण होता है ।

एक-एक इन्द्रिय के विषयों की अधीनता के कारण तिर्यंच प्राणियों को मौत के मुंह में जाना पडता है ।

स्पर्शनेन्द्रिय के स्पर्श की आसक्ति से हाथी को जीवन भर गुलामी सहन करनी पडती है ।

रसनेन्द्रिय के स्वाद की आसक्ति के कारण मछली को बेमौत मरना पडता है ।

घ्राणेन्द्रिय के सुगंध की आसक्ति के कारण भ्रमर कमल में बंद हो जाता है । अंदर ही अंदर मर जाता है ।

चक्षुइन्द्रिय के रुप विषय की आसक्ति के कारण पतंगा आग में जल कर समाप्त हो जाता है ।

श्रोतेन्द्रिय के शब्द विषय की आसक्ति के कारण हिरण मौत का शिकार होता है ।

देह और आत्मा के भेदज्ञान की अनुभूति जब आत्मा के स्तर पर होती है अर्थात् जब अनुभव ज्ञान प्रकट होता है, तब जड़ पदार्थों के शब्द आदि का आकर्षण समाप्त हो जाता है, जिसके फल स्वरुप जाति स्मरण

ज्ञान आदि के माध्यम से पूर्व भवों में की गई चेष्टाओं का भी ख्याल आता है और आत्मा वीतराग प्रभु के द्वारा निर्दिष्ट सत्पथ पर प्रयाण करती है ।

हमें प्राप्त हुए वीतराग प्रभु भी कितने दयालु है ! दीक्षा से पहले परमात्मा ने **वार्षिक दान** दिया । प्रतिदिन एक करोड आठ लाख सुवर्णमुद्राएँ । प्रभु ने `जिसे जो चाहिए, जितना चाहिए', उतना दान दिया है । पूरे वर्ष तक कुल 388 करोड 80 लाख सुवर्णमुद्राएं जितना दान प्रभु ने दिया । परंतु इतना दान देकर भी प्रभु ने कभी यह नहीं माना कि मैंने सब को सुखी कर दिया ।

दीक्षा लेने के बाद परमात्मा ने जगत् के सभी जीवों को **अभय दान** दिया, आए हुए उपसर्ग और परिषहों को समतापूर्वक सहन किया । अंत में केवलज्ञान प्राप्त करके जगत् में रहे तमाम जीवों का उद्धार करने के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना की । पूर्व के तीसरे भव में जो भावना की थी, उस भावना के फलस्वरुप वे तीर्थंकर बने ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद क्षण मात्र का भी आराम किये बिना धर्मदेशना के माध्यम से **ज्ञान दान** की प्रक्रिया प्रारंभ की । दिन के प्रथम और अंतिम प्रहर में अर्थ से देशना देते हुए प्रभु ने अज्ञान के अंधकार को दूर करने कार्य किया ।

आत्मा के अज्ञान की क्या दशा है–

प्रत्येक जन्म में आत्मा ने इन्द्रिय जन्य सुखों की आशा में कुसंस्कारों का ही अभ्यास किया है । उन कुसंस्कारों से आत्मा में दोषों की पुष्टि हुई है । दोषों के सेवन से पाप कर्मों का बंध हुआ है और पापों के फल स्वरुप आत्मा ने प्रत्येक जन्म में मात्र दुःख का ही अनुभव किया है । सुख के अंश को पाने अपार दुःख का अनुभव किया है ।

संक्षेप में,

सुख की आशा → कुसंस्कार → दोष → पाप → दुःख ।

इस प्रकार प्रत्येक जन्म में आत्मा ने दुःखों का ही अनुभव किया है ।

सामान्यतया मनुष्य कडवे अनुभव के बाद सावधान हो जाता है । कहावत भी है–'दुध से जला व्यक्ति छाछ को भी फूँक-फूँककर पीता है ।' व्यापार में एक व्यापारी ने धोखा दिया हो तो व्यापारी अपने व्यापार के तरिके को बदल देता है । पत्नी, पुत्र आदि स्वजनों से एक बार धोखा खाकर व्यक्ति सावधान बन जाता है । अपने कडवे अनुभव को जिंदगी भर याद रखता है ।

परंतु आश्चर्य है कि प्रत्येक जन्मों में दु:ख की परंपरा का अनुभव करने पर भी जीव सावधान नहीं होता । पिछले जन्मों में चाहे जितने दु:खों का अनुभव किया हो, जन्म बदलते ही अनुभव की स्मृति नष्ट हो जाती है । मरण के एक उपघात से उस जन्म का सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है । चाहे डॉक्टर हो, सी.ए. हो या बडे से बडा प्रोफेसर हो जन्म बदलते ही अगले जन्म में A.B.C.D. से अभ्यास चालु करना पडता है । वैसे ही आत्मा स्वयं अनुभव किए दु:खो को भी भूल जाती है ।

पिछले जन्मों के दु:खों की बात तो दूर रही, इस जन्म में ही अनुभव की गई गर्भावास की पीडा भी याद नहीं है । नौ-नौ महिने उल्टे मस्तक रहे, चारो ओर घोर अंधकार, माता के किये भोजन से जो अशुचि बनी उसी को नाल के माध्यम से ग्रहण कर शरीर की वृद्धि की । लाखों सुइयों को तपाकर लाल करके एक साथ शरीर में भोंकी जाए उतनी वेदना प्रतिपल सहन की–ऐसा **तंदूल वैचारिक प्रकीर्णक** में कहा है । फिर भी उस दु:ख का स्मृति नहीं है ।

कैसी विचित्रता है ?

अनंत ज्ञान भीतर रहा हुआ है, फिर भी कर्मों के आवरण से आत्मा अपने आप को ही भूल बैठी है । महोपाध्याय श्री विनयविजयजी ने पंचासरा पार्श्वनाथ प्रभु के स्तवन में गाया है :–

नरक निगोदे बंदीखाने, काल अनंत रखायो,
पीया अति महामदना प्याला, बहु विपरीत भमायो ।। शरणे तुम्हारे आयो...

मोह तणी राणी महामूढता, तेणे हुं धंधे लगायो,
छाई रह्या मुज आंतर लोचन, आपकुं आप भूलायो ।।
शरणे तुम्हारे आयो...

अब यदि इन विडंबनाओं से मुक्त होना हो, इस जन्म-मरण की परंपरा का अंत लाना हो, इन दु:खों से छुटकारा पाना हो, सन अज्ञान आदि दोषों को नष्ट करना हो तो अवश्य ही परमात्मा की शरण में जाना होगा । परमात्मा स्वयं सर्वज्ञ है । वे तीन जगत् में रहे अनंतानंत आत्माओं की भूत-भविष्य और वर्तमान स्थिति को जानते है । हमारी आत्मा की जो दुर्दशा हुई है,उसका कारण पांच इन्द्रियों के विषय स्वरुप शब्द, रुप, रस, गंध और स्पर्श की आसक्ति बताई है ।

यदि अभी भी हम इन इन्द्रिय जन्य सुखों के पीछे ही दौडते रहेंगे, तो आगे हमारी क्या दशा होगी ? वही विडंबना,

वही जन्म मरण की परंपरा,
वही दोषों से दुर्गति का सर्जन,

वही अज्ञानता आदि दुर्गुणों का आत्मा पर प्रभाव, अनंतानंत काल मात्र दु:ख-दु:ख और दु:ख ।

नहीं ! अब और नहीं !

हमें जगना होगा । बाहर की आवाजों में दबी आत्मा के अनुभव की आवाज सुननी होगी । उस अनुभव की आवाज से विवेक पैदा करना होगा ।

क्या मेरा ? क्या पराया ?
मैं कौन ? कौन पराया ?
किसका मैं ? किससे पराया ?

यह सब जानकर अनादि काल के कुसंस्कारों का अंत लाना होगा । सुसंस्कारों को पुष्ट करना होगा । कुसंस्कारों को बढाने वाले और सुसंस्कारों को दबाने वाले अशुभ निमित्तों से दूर रहना होगा । इन सभी के लिए परमात्मा के बताए तत्त्वज्ञान का आश्रय लेना ही पडेगा ।

तत्त्व चिंतन की आवश्यकता

जानन्ति केचिन्न तु कर्तुमीशाः
कर्तुं क्षमा ये न च ते विदन्ति ।।
जानन्ति तत्त्वं प्रभवन्ति कर्तुं,
ते केऽपि लोके विरला भवन्ति ।।2।। (इन्द्रवज्रा)

शब्दार्थ

जानन्ति=वे जानते है,
केचित्=कुछ लोग,
न=नहीं,
तु=वितर्क में, वास्तव में,
कर्तुं=करने के लिए,
ईशाः=समर्थ,
क्षमाः=समर्थ,
ये=जो,
च=और,
ते=वे,
विदन्ति=जानते है,
तत्त्वं=ज्ञेय, हेय और उपादेय पदार्थ,
प्रभवन्ति=समर्थ होते है,
केऽपि=कोई भी,
लोके=तीन लोक में,
विरला=अति अल्प,
भवन्ति=होते है ।

गाथार्थ

इस लोक में कुछ लोग ऐसे होते है, जो तत्त्वज्ञान को जानते है, परंतु उसके अनुसार आचरण नहीं करते है । कुछ लोग ऐसे होते है, जो आचरण करने के लिए समर्थ होते है, परंतु तत्त्व को नहीं जानते है । तत्त्वों को जानने वाले और उसके अनुसार आचरण करने में समर्थ तो खूब अल्प जीव ही होते है ।

विवेचन

पिछले श्लोक में कहा कि अनुभव ज्ञान के द्वारा जड और चेतन का विवेक उत्पन्न होता है । प्रस्तुत श्लोक में जगत् के जीवों को तीन विभाग में बांट कर तत्त्वज्ञान का महत्व बताया है ।

ऋजुवालिका नदी के किनारे छट्ठ तप करते हुए प्रभुवीर ने मोहराजा पर विजय पाई । **प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक देवताओं ने आकर प्रभु का समवसरण रचा । प्रभु ने भी क्षण भर देशना देकर जब देखा कि सभा में एक भी जीव गणधर पद के योग्य नहीं है तब देशना समाप्त कर एक रात्रि में बारह योजन विहार कर अपापापुरी पधारे ।** वहाँ 4411 ब्राह्मणों के साथ गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति यज्ञ करवा रहे थे । प्रभु के आगमन पर पधारे देवों को देख इन्द्रभूति सोचने लगे कि यह मेरे यज्ञ का प्रभाव है कि देवता सामने से चलकर यहाँ आ रहे है ।

परंतु कुछ क्षण में ही उसका झूठा अभिमान टूट गया । देवता यज्ञ मंडप को छोडकर प्रभु के समवसरण की ओर चले गए । आश्चर्य के बीच लोगों के मुख से सर्वज्ञ के आगमन को सुनकर, वह क्रोध से जल उठा । **''मेरे होते हुए यहाँ कोई अन्य सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ? अभी जाकर उसे हरा देता हैं ।''** इस धारणा से अपने 500 शिष्य परिवार के साथ वे समवसरण की ओर आगे बढे । समवसरण की ओर जाते समय बीच मार्ग में जब लोगों के मुख से प्रभु का स्वरुप जाना तब उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा ।

अब मन में द्वंद्व चलने लगा, **''क्या सच्चे सर्वज्ञ यही है ? यदि है, तो मेरा अभिमान टूट जाएगा । मैं इनके आगे हार जाऊंगा । पुनः मन में अभिमान पुकारता है । नहीं, नहीं, सच्चा सर्वज्ञ मैं ही हूँ । मैं 14 विद्याओं में पारगामी ! मैं वादियों में सबसे बडा ! जाते ही हरा दूँगा । यदि इसे जीत लिया तो मेरा मान, मेरी पूजा और बढ जाएगी ।''**

ऐसे में प्रभु के अद्‌भूत रुप का दर्शन हुआ । ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर

के रुप से बढकर सूर्य-चन्द्र का प्रकाश भी जिसके आगे फिके पड जाए ऐसा अद्‌भूत रुप था । विचार करते-करते ख्याल आया कि ये तो 24 वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर है ।

प्रभु के पास पहुँचे । प्रभु ने नाम लेकर बुलाया-**हे इन्द्रभूते ! सुखेन आगतोऽसि !**

प्रभु के मुख से अपना नाम सुना, तो पुनः अभिमान उछलने लगा । मैं इतना प्रसिद्ध हूँ कि ये मेरा नाम जाने इसमें क्या आश्चर्य ! मेरे मन की शंका को जाने तो इन्हें सर्वज्ञ मानूं ।

तब प्रभु ने इन्द्रभूति के मन में रही आत्म विषयक शंका बताकर वेद की पंक्ति से ही समाधान दिया ।

प्रभु की सर्वज्ञता स्पष्ट प्रतीत हुई । अभिमान के शिखर पर रहे इन्द्रभूति अब विनय के शिखर पर चढकर प्रभु के परम विनीत शिष्य बने । अपने 500 शिष्यों के साथ दीक्षा ली । अब सत्य तत्त्व को जानने के लिए प्रभु को प्रश्न पूछा ।

भयवं ! किं तत्तं ? हे भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

प्रभु ने उत्तर दिया-**``उपन्नेइ वा ।''** जो उत्पन्न होता है वह तत्त्व है । बीज बुद्धि के स्वामी इन्द्रभूति की शंका आंशिक शांत हुई परंतु पूर्ण समाधान नहीं हुआ । पुनः प्रश्न पूछा-

भयवं ! कि तत्तं ? हे भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

प्रभु ने पुनः उत्तर दिया **``विगमेइ वा ।''** जो नष्ट होता है वह तत्त्व है । शंका पूर्णतया शांत नहीं हुई, इसलिए पुनः पूछा

भयवं ! कि तत्तं ? हे भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

प्रभु ने अंतिम उत्तर दिया **``धुएइ वा ।''** जो उत्पन्न और नष्ट होते हुए भी ध्रुव (स्थिर) रहता है, वह तत्त्व है ।

अब उनकी शंका का पूर्णतया समाधान हो गया । जैसे एक छोटे बीज में पूरा वट वृक्ष छिपा है, वैसे ही इन तीन पदों के 14 अक्षरों मे छिपे हुए समस्त श्रुतज्ञान का बोध प्राप्त कर गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी ने द्वादशांगी की रचना कर ली । शब्दों के माध्यम से जितना भी बोला जा सके, ऐसे समस्त श्रुतज्ञान के वे धारक बने ।

उसी तरह अग्निभूति आदि 10 ब्राह्मणों ने भी प्रभु की शरण स्वीकार कर तत्त्व की प्रार्थना की । प्रभु ने उन्हें भी त्रिपदी प्रदान कर गणधर पद पर स्थापित किया । सभी गणधर श्रुतकेवली बने ।

चौदह विद्या में पारगामी होने पर भी मन में किसी न किसी विषय पर शंका होने के कारण सभी ग्यारह गणधरों को वास्तविक तत्त्वज्ञान का अभाव था । प्रभु के मुखकमल से त्रिपदी प्राप्त हुई और सभी गणधर तत्त्ववेत्ता-तत्त्वज्ञानी बन गए । त्याग करने योग्य होम-हवन-यज्ञ-यावत् संपूर्ण संसार का त्याग कर दिया । आचरण करने योग्य साध्वाचार का स्वीकार कर दिया ।

आत्मा के भीतर ज्ञेय, हेय और उपादेय का विवेक तत्त्वज्ञान से पैदा होता है । स्वयं गणधर भगवंतों ने पहले संसार के सच्चे स्वरुप को जाना । फिर त्याग करने योग्य संसार का त्याग किया और अपनाने योग्य मार्ग का स्वीकार किया । यही वास्तव में ज्ञेय, हेय और उपादेय की प्रक्रिया है । इन तीनों प्रक्रिया को समझने के लिए परमात्मा ने हमे नवतत्त्व बताए है ।

अपनी आत्मा का विचार करे तो भूतकाल में हमने कौनसा कष्ट सहन नहीं किया है ? जैसे खंधक मुनि की चमडी उतारी गई तो उस उपसर्ग को समतापूर्वक सहन करके उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वे मोक्ष में चले गए । पूर्व भवों में कई बार पराधीनता के कारण हमारी भी चमडी उतारी गई है, परंतु तत्त्वज्ञान के अभाव में समताभाव की प्राप्ति नहीं हुई, जिससे कर्म क्षय के बजाय और कर्म का बंध ही हुआ । ऐसे तो कई उपसर्गों को हमने अनंती बार सहन किया है । फिर भी हमारी आत्मा के कर्म क्षय नहीं हुए क्योंकि कष्ट सहन करने की क्रिया थी, परंतु तत्त्वज्ञान के अभाव में वह क्रिया भी व्यर्थ ही गई है !

दंडक सूत्र में श्री गजसार मुनि ने कहा है–

...'सव्वे वि इमे भावा, जिणा मए णंतसो पत्ता ।।'

अर्थात् – 24 दंडको में हमारी आत्मा अनंती बार दंडित बनी है । फिर भी आत्मोद्धार नहीं हुआ, क्योंकि एक मात्र ज्ञान का अभाव था ।

वैसे ही भूतकाल में अनंती बार 9 पूर्वों का ज्ञान भी प्राप्त किया। परंतु ज्ञान प्राप्त करके भी सम्यक् आचरण के अभाव में हम आत्मोद्धार से वंचित रहे। प्रमाद किया तो निगोद में चले गए। वहाँ अनंत काल एक ही स्थिति में पडे रहे।

बात स्पष्ट है। कई भवों में क्रिया थी, परंतु ज्ञान का अभाव था, तो कई भवों में ज्ञान था, परंतु क्रिया का अभाव था।

नवतत्त्व में जीव और अजीव तत्त्व जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है, पाप, आश्रव और बंध तत्त्व छोडने योग्य अर्थात् हेय है और पुण्य, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व आदरणीय है, अर्थात् उपादेय है।

`तत्त्वचिंतन के आधार पर जीवों के तीन विभाग–

1) इस जगत् में कुछ जीव ऐसे है, जो हेय-उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य और स्वीकार करने योग्य पदार्थों को जानते है, परंतु उसके अनुसार आचरण करने में समर्थ नहीं है।

2) दूसरे प्रकार के जीव ऐसे है, जो आचरण करने में समर्थ है, परंतु हेय-उपादेय पदार्थों के विषय में कुछ भी जानते नहीं है।

3) तीसरे प्रकार के जीव ऐसे है, जो हेय-उपादेय रुप तत्व को अच्छी तरह से जानते है एवं उसके अनुसार आचरण करने में समर्थ भी है। ऐसे लोग इस दुनिया में खूब विरल ही होते है।

ज्ञान और क्रिया के संयोग से मोक्ष

प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार महर्षि ने मुक्ति-मार्ग का बहुत ही सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है।

वे कहते है सिर्फ ज्ञान से मुक्ति नहीं है। पुनः वे कहते है, सिर्फ क्रिया से मुक्ति नहीं हैं, परंतु ज्ञान और क्रिया दोनों के संयोग से ही मुक्ति है।

दुनिया में कई लोगों की यह गलत भ्रांति है कि ज्ञान से ही मोक्ष हो जाएगा। उनका पूरा भार सिर्फ ज्ञान पर ही होता है। वे ज्ञान को ही प्रधानता देते है, परंतु क्रिया को गौण कर देते है अथवा क्रिया की उपेक्षा कर देते है।

कई लोग कुतर्क करते है कि क्रिया से ही मोक्ष है।

जो चलता है वही लक्ष्य को प्राप्त करता है । इस प्रकार वे क्रिया को प्रधानकर ज्ञान को गौण करने की बात करते है ।

परंतु सच्चा मार्ग तो ज्ञान और क्रिया के संयोग रुप है ।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए सम्यग्ज्ञान भी चाहिए और सम्यग्क्रिया भी चाहिए ।

पूर्वाचार्य महर्षि ने ज्ञान को आंख की उपमा दी है तो क्रिया को पांव की उपमा दी है ।

सिर्फ आंख हो तो भी व्यक्ति अपने लक्ष्य को हासिल नहीं कर सकता हैं और सिर्फ क्रिया हो तो भी व्यक्ति अपने लक्ष्य को हासिल नहीं कर सकता है ।

एक अंधा है और एक लंगडा है । लंगडा देख सकता है, परंतु चल नहीं सकता है । अंधा चल सकता है परंतु देख नहीं सकता है ।

घर में आग लग जाय तो दोनों का बचना, मुश्किल है । परंतु दोनों एक हो जाय अर्थात् अंधा, लंगडे के कंधे पर चढ जाय तो दोनों का बचना शक्य है ।

बस, साधना मार्ग में भी ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता है ।

सिर्फ तत्त्वज्ञान का अभ्यास करे परंतु आचरण में शुन्य हो तो आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता है ।

कोई कठोरतम क्रियाएं करे परंतु ज्ञान बिल्कुल न हो तो भी उस आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता है ।

परंतु ज्ञान और क्रिया दोनों का मिलन हो जाय तो आत्मा का अवश्य मोक्ष हो सकता है ।

दुनिया में एकांत ज्ञान का पक्ष लेनेवाले भी बहुत मिल जाएंगें ।

दुनिया में एकांत क्रिया का पक्ष लेनेवाले भी बहुत मिल जाएंगें ।

परंतु ज्ञान एवं क्रिया का समन्वयकर दोनों की सापेक्ष प्रधानता का स्वीकार करनेवाले तो विरले ही मिलेंगे । दुनियां में एकांतवाद का स्वीकार करनेवाले बहुत हैं, परंतु अनेकांतवाद-स्याद्वाद का स्वीकार करनेवाले तो विरले ही होते है ।

सिद्धि हेतु आवश्यक पदार्थ

सम्यग्विरक्तिर्ननु यस्य चित्ते,
सम्यग्गुरुर्यस्य च तत्त्ववेत्ता ।
सदाऽनुभूत्या दृढनिश्चयो य–
स्तस्यैव सिद्धिर्न हि चापरस्य ।।3।। (उपजातिः)

शब्दार्थ

सम्यग्=ज्ञान गर्भित,
विरक्ति=वैराग्य,
ननु=निश्चय से,
यस्य=जिसके,
चित्ते=चित्त में,
सम्यग्=आगमों के अनुसार,
गुरुः=धर्मोपदेशक,
यस्य=जिसको,
च=और,
तत्त्ववेत्ता=आगम तत्व के ज्ञाता,
सदा=हमेशा,
अनुभूत्या=अनुभव ज्ञान के द्वारा,
दृढनिश्चयः=अचल निर्णयवाले,
यः=जो,
तस्यैव=उसे ही,
सिद्धिः=सिद्धि है,
न=नहीं,
हि=निश्चय से,
च=और,
अपरस्य=अन्य को ।

गाथार्थ

वास्तव में जिसके चित्त में ज्ञान गर्भित वैराग्य है । जिसके गुरु आगम में बताए हुए तत्त्वज्ञान को जानने वाले है और जिनको हमेशा भावनाज्ञान से दृढ़निश्चय हुआ है, उसे ही सिद्धि होती है, अन्य को नहीं ।

विवेचन

मंजिल को हासिल करना हो तो मार्ग का स्वीकार करना ही पडता है ।

पूर्वाचार्य महर्षि ने इस श्लोक में मोक्ष मार्ग का Map खडा कर दिया है ।

वे कहते हैं–`आप अपने जीवन में तीन गुणों को आत्मसात् करो, मोक्ष आपकी हथैली में है ।

(1) सच्चा वैराग्य (2) सद्गुरु योग (3) दृढ निश्चय ।

1. सच्चा वैराग्य :– वैराग्य अर्थात् कंटाला, अरुचि भाव ! संसार में रहे सभी जीवों में दुःख के प्रति तो तीव्र वैराग्य रहा हुआ है, परंतु मुक्ति के साधना मार्ग में उसकी लेश भी कीमत नहीं है ।

पू. हरिभद्रसूरिजी म. ने अष्टकप्रकरण में वैराग्य के तीन प्रकार बतलाए है–

(1) दुःखगर्भित वैराग्य :– दुःख के कारण होनेवाला वैराग्य !

संसार में पत्नी पुत्र-परिवार की ओर से प्रतिकूल व्यवहार होने पर कइयों को संसार के प्रति वैराग्य पैदा हो जाता है परंतु वह वैराग्य तभी तक टिकता है, जब तक दुःख हो ।

दुःख के दूर होने के साथ ही वह वैराग्य हवा में उड जाता है ।

मुक्ति मार्ग की साधना में दुःख गर्भित वैराग्य की कोई कीमत नहीं है ।

हाँ ! कभी कभार भवितव्यता का योग हो तो दुःख गर्भित वैराग्य, ज्ञान गर्भित वैराग्य में भी बदल जाता है ।

(2) मोहगर्भित वैराग्य :– मिथ्यादर्शन की मान्यता के अनुसार संसार में होनेवाले वैराग्य को मोहगर्भित वैराग्य कहते है ।

यद्यपि इस वैराग्य में मोक्ष का लक्ष्य होता है, परंतु मिथ्या दर्शन की मान्यात के कारण वह मोक्ष के यथार्थ स्वरुप को नहीं समझता हैं, इस कारण होनेवाला वैराग्य भी सच्चा वैराग्य नहीं कहलाता है ।

अथवा जिनमत की मान्यता के स्वीकार के बाद भी इस लोक या परलोक के सुख की कामना से होनेवाला वैराग्य मोहगर्भित ही कहलाता है ।

अभव्य आत्मा या अचरमावर्त में रही आत्मा धर्म के फल स्वरुप प्राप्त होनेवाले देवलोक के दिव्य सुखों को पाने के लिए संसार का त्याग कर दीक्षा स्वीकार करती है, परंतु उनका वह वैराग्य मोहगर्भित ही कहलाता है । उस वैराग्य से भी आत्मा को कोई लाभ नहीं है ।

(3) ज्ञानगर्भित वैराग्य :– जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बताए गए जीव आदि नौ तत्त्वों के सम्यग्बोध से एक मात्र मोक्ष सुख को पाने के ध्येय से संसार के भौतिक सुखों के प्रति होनेवाले वैराग्य को ज्ञानगर्भित वैराग्य कहते है ।

यह वैराग्य जिसे होता है, उस आत्मा का वैराग्य सच्चा वैराग्य कहलाता है । ऐसा वैराग्य संसार के त्याग को खींचकर लाए बिना नहीं रहता है ।

ज्ञानगर्भित वैराग्य से चित्रमुनि का मोक्ष

वाराणसी नगरी में भूतदत्त नाम का मातंगाधिपति (चाण्डाल) रहता था । उसके चित्र और संभुति नाम के दो पुत्र थे । उस नगर में शंख नाम का राजा और नमुचि नाम का मंत्री थी । **मंत्री की किसी गंभीर भूल के कारण राजा ने उसे मृत्युदंड की सजा दी । उसे भूतदत्त चाण्डाल को सौंपा गया । मृत्यु को सामने देख नमुचि घबरा गया । उसने भूतदत्त से प्राणों की भीख मांगी ।** नमुचि की कला कुशलता देखकर उसने अपने दोनों पुत्रों को कलाभ्यास कराने की शर्त पर जीवनदान दिया । अब प्रतिदिन गुप्त में रहकर नमुचि मंत्री चाण्डालपुत्र चित्र और संभुति को कलाभ्यास करवाने लगा ।

वहाँ रहते हुए नमुचिमंत्री भूतदत्त की पत्नी पर मोहित हो गया । समय जाने पर गुप्त रुप से दोनों की पाप लीलाएँ शुरु हो गई । जैसे ही भूतदत्त को इस बात का पता चला, वह पापी नमुचि को मारने दौड़ा ।

नमुचि वहाँ से भागकर हस्तिनापुर के चक्रवर्ती सनत्कुमार के पास पहुँचा । कुशल जानकर चक्रवर्ती ने उसे मंत्री पद पर स्थापित किया ।

इस ओर गीतगान, वीणावादन आदि कलाओं में कुशल बने चित्र और संभूति भी अपनी कला प्रदर्शन करते हुए एक बार हस्तिनापुर नगर में आए । **वहाँ उनके गांधर्व देवों की तरह मधुर संगीत से लोग आकर्षित होने लगे । उनके संगीत का ऐसा जादू चला कि लोग अपने सभी काम-काज छोडकर उनके दिवाने बन गए । कुछ लोगो ने राजा को शिकायत की ।** राजा ने चाण्डाल पुत्र होने से उनका नगर में प्रवेश बंद करवा दिया ।

एक बार नगर के बाहर महोत्सव होने से दोनों भाई वेष बदलकर शिर पर बुर्खा डालकर अपनी कला बताने लगे । पूर्व परिचित होने से लोगों ने उन्हे बेनकाब कर दिया । चाण्डल पुत्र जानकर लोगों ने उन दोनों की खूब पिटाई की । कलाकुशल होने पर भी अपनी इस दशा से बेबस बनकर उन दोनों ने आत्म हत्या करने का निश्चय किया । झंपापात करने के लिए दोनों पर्वत पर चढे । **वहाँ उन्हे साधना में लीन बने एक महात्मा के दर्शन हुए । उन दोनों ने महात्मा को नमस्कार किया । महात्मा ने उन्हे धर्मलाभ की आशीष दी । महात्मा को अपनी सारी आप बीती कह दी । महात्मा ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया । उनके शोक-संताप शांत हो गए ।** उनके भीतर धर्म की रुचि जगी । दोनों ने महात्मा के पास दीक्षा ली ।

अपने कर्मों को क्षय करने के लिए दोनों ने कठोर तप शुरु किया । तप के प्रभाव से उन्हें अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुई । एक बार हस्तिनापुर नगर में संभूति मुनि पारणे के लिए पधारे । मार्ग में जाते हुए नमुचि मंत्री ने उन्हे देखकर पहचान लिया । **'ये मांतगपुत्र है'** इस प्रकार मंत्री ने मुनि को अपमानित किया । लोगों ने उन्हें डंडों से मारा । संभूति मुनि क्रोधित हो गए । क्रोध की आग में सभी जलाने के लिए तैयार हो गए । सनत्कुमार चक्रवर्ती को इस बात का पता चला । उसने जाकर महात्मा से क्षमायाचना की । चित्र मुनि ने भी उन्हें समझाया । अंत में **``योगियों को शरीर और**

आहार की क्या आवश्यकता है ?'' ऐसा विचार कर दोनों ने अनशन व्रत स्वीकार किया ।

अनशन की साधना जानकर एक बार सनत्चक्रवर्ती अपने परिवार के साथ उन्हे वंदन करने आया । वंदन करते हुए जब स्त्रीरत्न सुनंदा ने संभूति मुनि के पास मस्तक झुकाया तब उसकी केशलता खुल गई । उसके कोमल बाल संभूति मुनि को स्पर्श कर गए । उसी समय उनकी मनोदशा बदल गई । **अब उन्हें मुक्ति सुख से भी चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न के संग में अधिक सुख का अहसास होने लगा । जीवन की दिशा बदल गई । हाथ आये मोक्ष सुख को बेचकर संभूति मुनि ने चक्रवर्ती बनने का नियाणा कर दिया ।** चित्र मुनि ने खूब समझाया, परंतु वे नहीं माने । एक भव पूर्ण कर वे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बने । मरकर सातवीं नरक में चले गए ।

संभूति मुनि का वैराग्य दुःख गर्भित ही रहा अतः अनशन का घोर तप भी उन्हे मोक्ष न दे सका । चित्र मुनि का दुःख गर्भित वैराग्य भी आगे चलकर ज्ञान गर्भित वैराग्य में बदल गया । अल्पकाल में मुक्ति सुख के भोक्ता बन गए । अतः मुक्ति के लिए ज्ञान गर्भित वैराग्य खूब जरुरी है ।

2. सद्गुरु का योग :– बस में जो स्थान ड्राइवर का होता हैं, साधना मार्ग में वही स्थान सद्गुरु का होता है । बस को चलानेवाला ड्राइवर खूब होशियार चाहिए । ड्राइवर यदि होशियार हैं तो वह बस को बहुत ही सरलता से अपने लक्ष्य बिंदु पर पहुँचा देता है । आपत्ति के प्रसंग में भी वह अपना रास्ता निकाल देता है ।

बस, सद्गुरु भी तत्त्ववेत्ता चाहिए । सम्यग् अर्थात् सच्चे । सच्चे गुरु का अर्थ ही हैं जो स्वयं तत्व के ज्ञाता हो अर्थात् व्यवहार-निश्चय, उत्सर्ग-अपवाद आदि के अच्छे ज्ञाता हो ।

किसी परिस्थिति में क्या करने योग्य हैं ? उसके ज्ञाता होने चाहिए ।

सद्गुरु कुशल शिल्पी के समान होते हैं । जिस प्रकार कुशल शिल्पी अनगढ पत्थर को भी सुंदर प्रतिमा का आकार दे देता हैं, उसी प्रकार सद्गुरु मुर्ख शिष्य को भी पंडित बना देते है ।

सद्गुरु के योग की सफलता शिष्य के दिल में रहे समर्पण भाव को आभारी है ।

सद्गुरु का योग हुआ हो, परन्तु अन्तर्मन में गुरु के प्रति समर्पण भाव नहीं है तो वे महान् गुरु भी शिष्य को तार नहीं सकते है । साक्षात् तीर्थंकर जैसे सद्गुरु का योग हो परंतु शिष्य में समर्पण भाव नहीं है तो वे तीर्थंकर भी शिष्य को तार नहीं सकते है ।

सद्गुरु का योग भी उसी को प्राप्त हुआ सार्थक कहलाता हैं, जिस शिष्य के हृदय में पूर्ण समर्पण का भाव हो ।

उस समर्पण भाव में जितनी तीव्रता होगी, शिष्य का विकास उतना ही तीव्र होगा और उस समर्पण भाव में जितनी मंदता होगी, शिष्य का विकास उतनी ही मंद गति से होगा ।

गीतार्थ सद्गुरु के योग से नागिल का मोक्ष

सुमति और नागिल दोनों भाई थे । पहले वे दोनों भाई विशाल समृद्धि के मालिक थे । काल ने पलटा खाया, पूर्व भव के पापोदय से समृद्धि नष्ट हो गई । दोनों भाई गरीब हो गए । एक बार धन कमाने के लिए दोनों स्वदेश छोडकर परदेश जा रहे थे । बीच रास्ते में उन्हे पांच साधु और एक श्रावक का संग हुआ ।

साथ चलते चलते सुमति उनकी ओर आकर्षित हो गया, जबकि नागिल को उनका आचरण सही नहीं लगा । वास्तव में वे महात्मा कुशील थे । नागिल को उनके आचरण में पांचों महाव्रतों का भंग नजर आ रहा था ।

उसने सुमति को कहा-**''श्री नेमिनाथ भगवान ने जैसा कुशील साधुओं का आचार बताया है, वैसा ही इन साधुओं का आचार लगता है । अतः इनका संग करने जैसा नहीं है ।''**

सुमति को यह बात ठीक नहीं लगी । वह नागिल के साथ कुतर्क करने लगा । दोनों भाइयों की बीच चर्चा हुई । दृष्टिराग के कारण वह कुछ नहीं माना । अंत में नागिल की बात को झुठलाते हुए बोला **''जैसा तू वैसे**

ही तेरे भगवान होंगे ।'' इस वचन से उसने तीर्थंकर की आशातना कर अपना अनंत संसार बढा दिया । अंत में उसने उन्ही कुशील साधुओं के पास दीक्षा ली ।

कुशील पांचों साधु अपने दुष्कृतों की आलोचना किये बिना मरकर व्यंतर देव बने । सुमति तीर्थंकर की आशातना एवं कुशील संग के कारण मरकर परमाधामी देव बना और दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करेगा । जबकि नागिल ने उन कुशील साधुओं का त्याग कर गीतार्थ गुरु के पास दीक्षा ली । अंत में साधना कर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में चले गए ।

ग्रंथकार ने इस गाथा में बताया दूसरा गुण यानी तत्त्ववेत्ता गीतार्थ सद्गुरु के योग की महत्ता बताता है । **मात्र साधुवेश से आकर्षित होने वालों के लिए यह लाल बत्ती है ।** जीवन समर्पण करने से पहले गुरू के जीवन में साधुवेश के साथ तत्त्वबोध, गीतार्थता और सम्यग् आचरण देखना भी आवश्यक है ।

3. अनुभव ज्ञान के साथ दृढ निश्चय :– जो ज्ञान आत्मा की परिणति को सुधारनेवाला हो, वही ज्ञान सम्यग् ज्ञान कहलाता है, ऐसे अनुभवज्ञान के साथ जिसका दृढ़ निश्चय हो, ऐसी आत्मा ही मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं, अन्य आत्माओं के लिए तो मुक्ति की मंजिल दूर ही है ।

अनुभवज्ञानी पुंडरिकमुनि का उत्थान

महाविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती विजय के पुण्डरीकिणी महानगरी में महापद्म राजा और पद्मावती रानी थी । उनके पुण्डरिक और कण्डरिक नाम के दो पुत्र थे । किसी निमित्त से वैराग्य पाकर महापद्म राजा ने पुण्डरिक को राजा और कण्डरिक को युवराज पद पर स्थापित कर स्थविरो के पास दीक्षा स्वीकार की । क्रमशः चारित्र धर्म की आराधना कर वे मोक्ष में गए ।

पुण्डरिक राजा न्याय पूर्वक राज्य का पालन करने लगा । राज्य का पालन करते हुए एक बार किसी स्थविर के पास धर्म सुनकर दोनों भाई

प्रतिबुद्ध हुए । घर आकर बडे भाई पुण्डरिक राजा ने कण्डरिक से कहा–हे भाई ! तूं इस राज्य को ग्रहण करों, मैं स्थविर के पास दीक्षा लेना चाहता हूँ ।

यह सुनकर कण्डरिक ने कहा–**''मुझे राज्य से क्या लेना ? पिताजी ने आपको राज्य दिया है, तो आप ही राज्य संभालो । मैं दीक्षा लूंगा ।''**

छोटे भाई के अति आग्रह से बडे भाई ने उसे दीक्षा की अनुमति दी । दीक्षा स्वीकार करके कण्डरिक ने एक हजार वर्ष तक कठोर तप साधना की । तप के आचरण से उनका शरीर कृश बन गया । कुछ बीमारियों ने शरीर में प्रवेश किया ।

भाईमुनि की बीमारियों को देख राजा पुण्डरिक को कुछ चिंता हुई । गुरु की आज्ञा लेकर उसने भाई मुनि को नगर में धारने की विनती की । अच्छे वैद्यों से उनकी चिकित्सा करवाई । अब शरीर स्वस्थ और शाताकारी हो गया ।

चिकित्सा पूरी हो गई परंतु अब कण्डरिक मुनि के चारित्र के परिणाम भंग हो गए । वे पुनः जंगलों में जाकर कष्ट सहन करने के लिए तैयार नहीं थे । फिर भी राजा, गुरु आदि के आग्रह, लज्जा आदि के वश जाना पडा । एक-दो बार ऐसे ही आये गए, परंतु अब मन में चारित्र जीवन कष्टदायी लगने लगा । राज्य सुख पाने की इच्छा जगी ।

एक बार गुरु की आज्ञा के बिना ही अकेले राजभवन के पास अशोक वाटिका में आ गए । रजोहरण आदि उपकरणों को वृक्ष की डाल पर लटका कर वृक्ष के नीचे बैठ गए । उद्यान पालकों ने राजा को समाचार दिये । राजा तुरंत ही उद्यान में आ गया । कुण्डरिक मुनि के अभिप्राय को जानकर एकांत में उनके यहाँ आने का कारण पूछा । उन्होने कहा-**'मुझे राज्य भोग की इच्छा है ।'**

राजा ने देखा-अब समझाने से कोई फायदा नहीं होगा । अपने राजपुरुषों को बुलाकर उद्यान में ही कण्डरिक का राज्याभिषेक करवा दिया । अनुभव ज्ञान एवं दृढ़ निश्चय के अभाव में वे एक हजार वर्ष के चारित्र को खोकर भोगों की आसक्ति में डूब गया ।

अब राजभवन में आकर एक रंक की तरह आकण्ठ भोजन किया। राजसेवकों के हंसने पर उनपर बहुत क्रोध किया। फिर रात भर स्त्रियों के साथ निर्लज्ज होकर भोग किये। रात भर जागरण और भोजन के अजीर्ण से दश्तें, उल्टी, सिरदर्द, बुखार आदि रोग पैदा हुए। राजसेवक भी **''यह इसके पाप का फल है''** ऐसा जानकर सेवा करने के लिए तैयार नहीं हुए। बुलाने पर भी कोई पास नहीं आया, तब सभी को मारने के दुष्परिणाम वश रौद्रध्यान करते हुए कृष्णलेश्या वाला कण्डरिक राजा मरकर सातवीं नरक में चला गया।

इधर पिछले एक हजार वर्ष से दीक्षा के अरमान करनेवाले पुण्डरीक राजा ने कण्डरिक के साधु वेश का स्वीकार किया। **जब तक स्थविरों की वंदन न करुं, तब तक आहार-पानी त्याग करने का नियम लिया। मार्ग में कांटे-पत्थर के उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते हुए कब स्थविरों को वंदन होंगे ?** इसी शुभ भावना से भाव वृद्धि की। दो दिन के बाद स्थविरों के दर्शन हुए। उनके पास विधिवत् दीक्षा स्वीकार की। छट्ठ तप के पारणे में निरस आहार लिया। रात्रि में शरीर वेदना-ग्रस्त बना, परंतु मन में दीक्षा स्वीकार का अपूर्व हर्ष था। विशुद्ध ध्यान के साथ देह का त्याग कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव बने।

अनुभूति स्तर के ज्ञान के साथ दृढ निश्चय से पुण्डरिक मुनि अल्प कालीन संयम का पालन कर सात राजलोक ऊपर गए और उसके अभाव में एक हजार वर्ष संयम का पालन करने पर भी अंत में पतित हुए कुण्डरिक मुनि सात राजलोक नीचे चले गये। दोनों जगह समान आयुष्य होने पर श्री एक को परम सुख का तो दूसरे को अपार दुःख का अनुभव हुआ।

संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा को ये तीनों बातें–सच्चा वैराग्य, सद्गुरु का योग और अनुभव ज्ञान से दृढ निश्चय होना दुर्लभ है, परंतु अशक्य तो नहीं है। सही दिशा में योग्य पुरुषार्थ करने से इन तीनों दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति हो सकती है। आवश्यकता है मात्र सही दिशा की ओर पुरुषार्थ करने की।

वैराग्य के कारण

विग्रहं कृमिनिकाय–सङ्कुलं,
दुःखदं हृदि विवेचयन्ति ये ।
गुप्तिबन्धमिव चेतनं हि ते,
मोचयन्ति तनुयन्त्रयन्त्रितम् ।।4।। (स्थोद्धता)

शब्दार्थ

विग्रहं=देह,
कृमिनिकाय=द्वीन्द्रिय जीव विशेष,
संकुलं=समुह को,
दुःखदं=दुःखदायी,
हृदि=हृदय में,
विवेचयन्ति=विवेक बुद्धि से विचार करते है,
ये=जो,
गुप्तिबन्धं=कारागृह में,
इव=कि तरह,
चेतनं=आत्मा को,
हि=निश्चय से,
ते=वे,
मोचयन्ति=मुक्त करते है,
तनुयन्त्रयन्त्रितम्=शरीर रुपी कैदखाने में नियंत्रित हुए ।

गाथार्थ

यह शरीर कृमियों के समुह से भरा हुआ और दुःखदायी है, ऐसा विवेक जो अपने हृदय में करता है, वह शरीर रुपी कारागृह में बंधी हुई आत्मा को, जेल में बंध हुए कैदी की तरह मुक्त करता है ।

विवेचन

अनादि काल से आत्मा का संसार में परिभ्रमण हो रहा है । यह परिभ्रमण शरीर के प्रति ममत्व भाव के कारण है । जिस गति में आत्मा ने जन्म लिया, सबसे पहले शरीर बनाने का ही काम किया । शरीर को बनाने और जीवन पर्यंत उसे टिकाने के प्रयास में आत्मा ने सर्वस्व न्योछावर कर दिया है । परंतु उसके लिए होने वाले पापों की ओर नजर भी नहीं गई । जगत् में रहे सभी जीवों को अपने प्राण प्यारे है और वह प्राणों का आधार भी शरीर ही है । यदि शरीर का वास्तविक स्वरुप समझा जाय, तो उसके प्रति रहा ममत्व भाव टूट सकता है । **मनुष्य शरीर की रचना** विषयक लेख में पूज्य **पंन्यासश्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** ने लिखा है–

``अन्य गति में से मनुष्य गति में आनेवाला जीव, अपने साथ मात्र दो ही वस्तु लेकर आता है–(1) कार्मण शरीर और (2) तैजस शरीर । पूर्वजन्मों में उपार्जित किये शुभ-अशुभ कर्म पुद्गलों का समूह-कार्मण शरीर है और आहार की अभिलाषा पैदा करनेवाली एक प्रकार की अग्नि-तैजस शरीर है । शरीर की रचना का पहला कारण आहार है । इस आहार की अभिलाषा तैजस शरीर के कारण होती है और इन सभी का मूल कारण कार्मण शरीर है ।

मनुष्य गति में आने के साथ, जीव सबसे पहले जो कार्य करता है, वह आहार-ग्रहण करने का है । जिस समय जीव स्त्री के रुधिर और पुरुष के शुक्र के मिश्रण से बने पुद्गलों का आहार ग्रहण करता है, उसी समय जीव का मनुष्य गति के रुप में जन्म हुआ माना जाता है । गर्भ में शरीर तैयार होकर नौ महिने के बाद माता के गर्भ में से जब बाहर आता है, तब व्यवहारिक जन्म कहलाता है, परंतु निश्चय से तो मनुष्य का जन्म माता के गर्भ में जब अन्य गति से आने के बाद पहले आहार ग्रहण करता है, तभी हो जाता है । इस प्रकार आहार ग्रहण करने से शरीर बनने लगता है और शरीर में से इन्द्रिय आदि स्वतः बनते हैं ।

मनुष्य शरीर की यह रचना क्रमशः किस प्रकार होती है, वह प्रक्रिया समझने जैसी है । इसे समझने से शरीर पर होने वाला झूठा मोह नष्ट हो जाता है और उसमें से सारभूत तत्त्व ग्रहण करने की उत्कट इच्छा जागृत होती है । तंदुल वैतालिक प्रकीर्णक और भव-भावना आदि जिनागम ग्रंथों में इसका स्वरुप विस्तार से बताया गया है । यहाँ मात्र इसका संक्षेप में दिशा-निर्देश किया जा रहा है ।

स्त्री के रुधिर और पुरुष के शुक्र के अशुचिमय पुद्गलों को जन्म के समय में आहार के रूप में ग्रहण करने के बाद उसमें से शरीर रचना का प्रारंभ होता है । प्रति समय आहार के पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर निर्माण कार्य चालू रहता है । गति, जाति, औदारिक और अंगोपांग आदि नाम कर्म के आधार पर शरीर की रचना होती है । ऋतु काल के बारह मुहूर्त बीतने पर गर्भ में उत्पत्ति, उसमें पहले सात दिन के बाद गर्भ कलल के रुप में, फिर सात दिन बाद अर्बुद (एक प्रकार का बुलबुला) रुप होता है । फिर सात दिन के बाद गर्भ, मांस की पेशी रूप बनता है ।

दूसरें महिने में वही पेशी कुछ और मजबूत-कठोर बनती है ।

तीसरे महिने में गर्भ के बढने से माता को दोहद पैदा होते है ।

चौथे महिने में गर्भ के अंगोपांग पुष्ट बनते है ।

पांचवे महिने में गर्भ गत शरीर को दो हाथ दो पैर और सिर इस प्रकार पांच अंकूर निकलते हैं ।

छठे महिने में पित्त और शोणित उत्पन्न होता है ।

सातवें महिने में क्रमशः 700 नसें, 500 मांस पेशियाँ, 9 बडी धमनियाँ और 99 लाख रोमकूप उत्पन्न होते है । दाढी, मुछ और शरीर के कुल मिलकर 3 करोड 50 लाख रोमकूप तैयार होते है ।

आठवें महिने में गर्भ गत शरीर संपूर्ण अंगोपांग वाला बनता है और नौवें महिने में प्रसूति होती है ।

जिस प्रकार नर-नारी के संयोग से गर्भ रहता है, उसी प्रकार कभी वस्त्र और जलादि के संयोग से भी गर्भ रहता है । माता के पेट

में गर्भ अपनी आँखों के आगे दोनों हाथों से मुट्ठी बांधकर, उल्टे मस्तक रहता है । नाभि के दायी ओर नर-गर्भ रहता है, नाभि के बायी ओर नारी-गर्भ रहता है और नपुंसक गर्भ नाभि के मध्य में रहता है । मनुष्य का गर्भ 9 महिने 7 दिन तक माता के पेट में रहता है और तिर्यंच का अधिकतम 8 साल तक पेट में रहता है ।

जन्म के बाद पुरुष शरीर के नौ छिद्र (द्वार) और स्त्री शरीर के बारह छिद्र (द्वार) सदा अशुचि पुद्गलों से बहते रहते है । दो-कान, दो-आंख, दो-नाक के छिद्र, एक मुख, एक गुदा और एक पुरुषचिह्न । इससे अतिरिक्त स्त्री-शरीर के दो स्तन और एक योनि । वह अभ्यंतर योनि मांस से भरपूर रहती है । वह हमेशा बहती रहती है ।

रुधिर से भरी स्त्री की योनि में अनेक सुक्ष्म जंतु रहते है । जैसे रुई से भरी बांस की नली में अग्नि के ताप से लाल बनी सूई डालने पर वह रुई जल कर नष्ट हो जाता है । वैसे ही स्त्री योनि में रहे सूक्ष्म जंतु एवं अन्य संमुर्च्छिम जीव तथा संभोग काल में पैदा होने वाले नौ लाख गर्भज मनुष्य जीवों का भी नाश होता है । इस कारण तीर्थंकर तथा गणधर भगवंतों ने मैथुन क्रिया को त्याज्य और अनेक जन्म-मरण की परंपरा को बढ़ानेवाली कहा है ।

जन्म लेने के बाद बढे हुए मनुष्य के शरीर में 10 सेर रुधिर (खून) 10 सेर मूत्र, 5 सेर चर्बी, 2 सेर विष्टा, 64 टांक पित्त, 32 टांक श्लेष्म और 32 टांक वीर्य हमेशा रहता है । पेट में हवा, जठर में अग्नि, रुधिर में जल, हड्डी में पृथ्वी और खाली जगह में आकाश रहता है । इस प्रकार शरीर में पांच प्रकार के भूत रहे होने से उसे पंचभौतिक भी कहा जाता है ।

शरीर में धातु के अतिरिक्त 7 त्वचा, 900 नाडियाँ, 500 पेसियाँ, 300 हड्डियां, 160 जोडे और 7700 मर्म स्थान होते है । इस प्रकार मनुष्य शरीर को एक प्रकार का हड्डियों का ढांचा, मांस का पिंड, रुधिर की थैली, विष्टा की गाडी, मूत्र की कुंडी और चमडे से ढंकी हुई अशुचि की कोटरी आदि उपमाएँ सुघटित होती है ।

शरीर का प्रारंभिक कारण और उत्तर कारण किस प्रकार अशुचिमय है और शरीर में अन्य शुचि पदार्थों को अशुचिमय बनाने का सामर्थ्य किस प्रकार है, उसे स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थ भाष्य में उमास्वातिजी महाराज कहते है :–

शरीर का प्रारंभिक कारण शुक्र और शोणित है । वे दोनों अशुचि रुप है । उत्तर कारण आहार लेना आदि है, वह भी अत्यंत अशुचिमय है । मुंह के द्वारा लिया जाता कवलाहार जब मुंह में रहे श्लेष्माशय में जाता है, तब वह आहार प्रवाही रूप में बनकर बिल्कुल अशुचि रूप बन जाता है ।

फिर पित्ताशय में जाकर वह आहार पकने के बाद खट्टे रस जैसा बन जाता है और वह भी अत्यंत अशुचिमय होता है ।

पका हुआ वह आहार वायुवाशय में जाकर मे खल और रस रुप दो विभाग में विभक्त हो जाता हैं । खल विभाग से मूत्र विष्टादि मल उत्पन्न होते है और रस विभाग से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से शुक्र धातु बनती है । इस प्रकार श्लेष्म से लेकर शुक्र तक सभी पदार्थ अशुचिमय होते है ।

शरीर का प्रारंभिक कारण और उत्तर कारण जैसे अशुचि है वैसे ही यह शरीर अशुचि का ही भाजन है । क्योंकि शरीर के प्रत्येक अंग-कान, नाक, आँख, दांत, मल, पसिना, श्लेष्म, पित्त, मूत्र, पिंड ये सभी अशुचि की विष्टा स्वरुप है ।

शरीर जैसे अशुचि का भाजन है वैसे अशुचि का उद्भव स्थान भी है, क्योंकि कान, नाक आदि का मल शरीर में ही पैदा होते है ।

शरीर जैसे अशुचि का उद्भव स्थान है, वैसे शरीर का उद्भव भी अशुचि में से ही हुआ है, क्योंकि अशुचि ऐसे गर्भ में ही शरीर की उत्पत्ति हुई है ।

पुनः वह अशुभ परिणाम के परिपाक से अनुबद्ध है ।

संभोग काल में रुधिर के साथ शुक्राणु के आधान से लेकर कलल, अर्बुद, पेशी, कठोर पेशी, संपूर्ण गर्भ, प्रसूति, कुमारावस्था, यौवनावस्था

और वृद्धावस्था तक के भाव, अशुभ परिणाम के परिपाक से अनुबद्ध है । इतना ही नहीं बल्कि दुर्गन्धी स्वभाववाला और अशुचिमय है ।

पुनः शरीर अशक्य-प्रतिकार रुप है । शरीर की अशुचि का कोई प्रतिकार नहीं है । तैल मालिश, स्नान, अनुलेप, धूप से सुवासित करना आदि क्रियाओं द्वारा और सुगन्धी पुष्प माला आदि द्रव्यों से शरीर की अशुचि दूर करना शक्य नहीं है । क्योंकि शरीर स्वयं अशुचिमय है, इतना ही नहीं परंतु शुचि का नाशक भी है । इसलिए शरीर अशुचिमय है ।

सभी प्रसंगों में शरीर की इस अशुचि का चिंतन करने से शरीर के प्रति रहा मोह भाव नष्ट होता है । शरीर पर रहे मोह का नाश होने के साथ ही उसके द्वारा शुभ क्रिया करने का भाव पैदा होता है । अशुचि ऐसे इस शरीर से, शुचि (पवित्र) ऐसे दान, दया, परोपकार तथा तप, शील, ब्रह्मचर्य आदि इस लोक, परलोक और उभय लोक के लिए हितकारी, सुखकारी और गुणकारी कार्य कराए जा सकते है । यावत् अव्याबाध सुख स्वरुप मोक्ष प्राप्ति के योग्य सभी धर्म अनुष्ठान मनुष्य शरीर द्वारा किये जा सकते है ।

जैन शासन में मनुष्य शरीर का गर्भावास, जीव को प्राप्त हुई घोर नरकावास समान माना गया है । प्रत्येक रोम में आग में तपी साढे तीन करोड सुइयों को एक साथ चुभाने से जो पीड़ा होती है, उससे भी आठ गुणी पीडा गर्भावास में रहे जीव को होती है । प्रसूति समय योनि मार्ग से बाहर निकलते समय जीव को जो पीड़ा होती है, वह गर्भावास की पीड़ा से अनेक गुणी होती है । मरण के समय की पीडा उससे भी अनेक गुणी मानी गई है ।

मनुष्य की अशुचि काया को मदिरा के घट की उपमा दी गई है । जैसे मदिरा से भरे घट को करोड़ों घडें पानी से शुद्ध करने पर भी शुद्ध नहीं होता, वैसे ही मनुष्य की काया करोड़ों बार स्नान, विलेपन या अभ्यंगन के द्वारा भी शुद्ध नहीं हो सकती है । आधुनिक जगत के वैज्ञानिक भी शरीर को पवित्र करनेवाली किसी वस्तु की

खोज नहीं कर सके है । उन्होंने जितनी भी सौंदर्य प्रसाधन सामग्रियों की खोज की है उन सभी को अशुचि में बदलने का सामर्थ्य शरीर में है । शहर और महानगरों की गटरों का मूल उत्पत्ति स्थान मनुष्य का शरीर ही है । इससे मनुष्य के शरीर को अशुचि की बहती नाली भी कह सकते है ।''

प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने मानव देह को कृमि से भरा हुआ और दु:खदायी कहा है । जैसे गट्टर और बहती नाली में सदा कीडे रहते हैं, वैसे ही इस शरीर रुपी गट्टर में कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीव भरे हुए है । इस वास्तविकता को देखकर मानव यदि कृत्य-अकृत्य का विवेक कर ले तो इस नश्वर शरीर से ही मोक्ष प्राप्ति की साधना की जा सकती है ।

तीर्थंकर परमात्मा ने मोक्ष प्राप्ति हेतु मानव शरीर की ही योग्यता बताई है । जैसे रेगिस्तान को पार करने के लिए मारुती कार आदि कोई वाहन काम नहीं आते है । उसे पार करने के लिए ऊंट ही काम आता है । भले ही ऊंट का शरीर बेडोल है, फिर भी उसके बिना रेगिस्तान की यात्रा असंभव है । वैसे ही संसार रुपी रेगिस्तान को पार करने के लिए मानव शरीर ही आवश्यक है ।

मानव शरीर को पाकर इसे मात्र खा-पीकर पुष्ट नहीं करना है, बल्कि इसके पास पूरा काम निकालना है । जैसे गन्ने का रस निकालने वाला व्यक्ति पहले उस गन्ने को पानी से धोता है । परंतु जब उसे यंत्र में पीलता है, तब उसका पूरा रस-कस निकाल देता है । अंत में कचरे के डिब्बे में फेंक देता है । वैसे ही इस शरीर से भी ऐसा ही व्यवहार करना है । मोक्ष की साधना में जरुरी है इसलिए अनुकूल पोषण भी देना होगा तो साथ में उसका पूरा रस-कस निकालकर साधना भी करनी पडेगी ।

शरीर को हमने अपना माना है अथवा तो शरीर को ही आत्मा मानली है । प्रत्येक जन्म में इसके प्रति खूब आसक्ति की है । इस आसक्ति को तोडना जरुरी है । शरीर के प्रति आसक्ति को तोडने के लिए शरीर को शत्रु मानना होगा ।

एक नगर में एक शेठ रहता था । एक बार व्यापार का माल ले जाते हुए एक चोर ने उसे और उसके पुत्र को लूंट लिया । साथ ही झगड़ा करते हुए चोर ने सेठ के पुत्र की हत्या कर दी । पकडे जाने पर राजा ने उसे जेल में बंद कर दिया ।

कुछ दिनों बाद चोरी का माल खरीदने के गुन्हे में सेठ भी पकडा गया । राजा ने उसे भी जेल में बंद कर दिया । योगानुयोग दोनों को एक ही सांकल से बांध दिया गया । भोजन का समय होने पर सेठ के घर से नौकर भोजन का थाल लेकर आया । भोजन देखकर चोर ने सेठ से भोजन की मांग की । माल की चोरी एवं पुत्र हत्या के द्वेष के कारण सेठ ने उसे भोजन देने से इन्कार कर दिया । चोर ने भी अपने मन में गांठ बांध ली ।

दूसरे दिन शरीर चिंता (बाथरुम) में जाने के लिए सेठ ने चोर को साथ चलने का कहा । चोर ने सेठ को इन्कार कर दिया । कारण पूछने पर चोर ने कहा यदि तुम मुझे भोजन नहीं देते तो मैं तुम्हें क्यों सहायता करुं ? सेठ परेशान हो गया । अब जब जेल में चोर के साथ ही रहना है, तो उसे भोजन आदि देना ही पडेगा । इस मजबूरी से उसकी सारी मांग पूरी करने का वादा किया ।

अब जब भी भोजन का थाल आता है, सेठ चोर को सभी पदार्थ देता है, अच्छा व्यवहार भी करता है, परंतु मन में तो द्वेष के कारण उससे बचना चाहता है । मित्र की तरह काम लेते हुए भी मन में तो द्वेष ही है ।

उसी तरह आत्मा सेठ है और शरीर चोर है । मोक्ष की साधना के लिए शरीर की सहायता आवश्यक है । अब इसे टिकाने के लिए इसे भोजन आदि से पोषण, औषध से रोग नाश एवं आराम आदि से राहत देना जरुरी है, तो साथ ही आत्म साधना में तत्पर रहकर इससे काम भी लेना जरुरी है । यदि इससे काम लिया जाय तो इसे दिया गया पोषण सफल है, अन्यथा पुद्गल का पुद्गल के साथ मिलन मात्र है ।

अतः शरीर के राग को तोडने का प्रयत्न करके इसके द्वारा मोक्ष मार्ग की साधना अवश्य कर लेनी चाहिए ।

मानव देह की सार्थकता

भोगार्थमेतद् भविनां शरीरं,
ज्ञानार्थमेतत् किल योगिनां वै ।
जाता विषं चेद् विषया हि सम्यग्,
ज्ञानात्ततः किं कुणपस्य पुष्ट्या ।।5।। (इन्द्रवज्रा)

शब्दार्थ

भोगार्थं=भोग के लिए,
एतद्=यह,
भविनां=संसाररसिक जीवों का,
शरीरं=शरीर,
ज्ञानार्थं=ज्ञान के लिए,
एतत्=यह,
किल=वास्तव में,
योगिनां=योगी जीवों का,
वै=ही (शरीर है),
जाता=चिन्तन किये हुए है,
विषं=जहर समान,
चेद्=यदि,
विषया=पांच इन्द्रिय के भोग्य,
विषया=शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श,
हि=निश्चय से,
सम्यग्ज्ञानात्=सम्यग्ज्ञान से,
ततः=तो फिर,
किं=क्यों,
कुणपस्य=देह की,
पुष्ट्या=पुष्टि से ।

गाथार्थ

संसार रसिक जीवों के लिए यह शरीर भोग का साधन है, जबकि योगियों के लिए यही शरीर ज्ञान का साधन है । यदि सम्यग्ज्ञान से शब्दादि पांच विषयों को विष की तरह जाना है, तो फिर इस शरीर की पुष्टि करने से क्या लाभ है ?

विवेचन

पिछली गाथा में शरीर को कृमि से भरी गट्टर कहकर दु:खदायी बताया है । प्रस्तुत गाथा में शरीर के उपयोग की सार्थकता और निरर्थकता बताते हुए संसारी जीवों को दो विभाग में बांटा है ।

(1) भोग में डुबे सांसारिक जीव ।

(2) ज्ञानानंद में डुबे योगी जीव ।

भोगी और योगी का जीवन-पंथ न्यारा और निराला ही होता है । एक गान में आसक्त होता है तो दूसरा ज्ञान में । दोनों के पंथ और दोनों की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हैं । फिर भी उन दोनों में एक समानता दिखाई देती है कि वे सदा अतृप्त होते हैं ।

भोगी को भोग के साधन कितने ही मिल जायें, वह सदा अतृप्त ही रहता है । इन्द्रियों के विषय-सेवन के बाद भी उसे पूर्ण तृप्ति या आनन्द का अनुभव नहीं होता है...उसकी तृषा...उसकी भूख सदा बनी रहती है । वह सदा नये-नये भोग और उनके साधनों की प्राप्ति के लिए लालायित बना रहता है । इस प्रकार वह सदा अतृप्त ही रहता है ।

बस यही अतृप्ति की स्थिति एक योगी की भी है । परन्तु हाँ ! उसकी दिशा और उसका पंथ अलग ही है, उसे आनन्द आता है ज्ञान की प्राप्ति में । ज्यों-ज्यों शास्त्र अध्ययन-अध्यापन के बल से उसे नए-नए ज्ञान की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी ज्ञान पिपासा बढती जाती है ।

यह शरीर सीढी के समान है । जैसे सीढी के माध्यम से ऊपर भी चढ़ सकते है और नीचे भी उतर सकते है । वैसे शरीर के माध्यम से आत्मा सात राजलोक ऊपर रहे मोक्ष को प्राप्त कर सकती है, तो सात राजलोक नीचे रही सातवीं नरक भी प्राप्त कर सकती है ।

शरीर के पिंजरे में कैद हुई इस आतम पंछी को मुक्त गगन में

उडने के अरमान है । परंतु शरीर, इन्द्रिय और मन की कुचेष्टाएँ आत्मा को जटिल शिकंजे में बांधने का ही काम करती है ।

शरीर को सुख के साधन, **ऐशो-आराम की सामग्री चाहिए । शरीर में रहीं पाँचों इन्द्रियाँ उसकी अनुकूल सामग्री चाहती है ।** पूरे शरीर में व्याप्त स्पर्शनेन्द्रिय रुपी त्वचा को कोमल मखमली गद्दी-तकिये, स्वच्छ सुंदर वस्त्र, गर्मी में ठंडा पानी, सर्दी में धूप, स्त्री का शरीर आदि के स्पर्श चाहिए ।

रसनेन्द्रिय को स्वादिष्ट मधुर-खट्टे-मीठे-नमकीन आदि भोजन एवं मनोहर पेय पदार्थ चाहिए ।

घ्राणेन्द्रिय को गुलाब, मोगरा, जाई-जूई आदि फूल, इत्र, कस्तुरी, गूगल आदि धूप की सुगंध चाहिए ।

चक्षु को रंगबिरंगे दृश्य, चित्र, विविध रंगों के फूलों से भरे बगीचे, प्राकृतिक दृश्य, सूर्यास्त का संध्याराग आदि सुंदर रुप दर्शन चाहिए ।

श्रोत्रेन्द्रिय को विविध वाद्ययंत्रों से निकलती मनोहर ध्वनि, कोयल आदि पक्षियों की आवाज, स्त्रियों के हास्य और कामोत्तेजक शब्द, आह्लादक संगीत आदि सुस्वर शब्द चाहिए ।

एवं मन को पूराने अनुभव किये विषयों का स्मरण और भविष्य में विषय सुख की कल्पना का आनंद चाहिए ।

संसार रसिक जो आत्माएँ है, वे शरीर को ही सर्वस्व मानती है । उनकी नजर में आत्मा का सच्चा और स्वाधीन सुख क्या है ? इसकी पहचान ही नहीं है । उसे तो शरीर, इन्द्रिय और मन के अनुकूल विषय मिलने पर सर्वस्व की प्राप्ति का आनंद लगता है । परंतु इन भ्रामक सुखों में अनंत ज्ञान आदि गुणों से समृद्ध आत्मा को भी भोगों की भीख मांगनी पडती है । हाय ! कैसी दुर्दशा !

जब तक आत्मा के सच्चे स्वरुप का बोध नहीं होता है, तब तक जीवात्मा को संसार के सुख ही मीठे लगते हैं । परंतु ज्ञानी भगवंतों ने

संसार के इन सुखों को किम्पाक के फल की उपमा दी है । किम्पाक फल दिखने में मनमोहक, स्वाद और सुगंध में सर्वश्रेष्ठ परंतु भीतर में विष भरा होता है । इसको खाते समय प्रारंभ में आनंद आता है, परंतु जैसे जैसे शरीर पर विष का असर होने लगता है, वैसे-वैसे अपार दु:ख का ही अनुभव होता है । अंत में बेमौत मरना पडता है । उसी तरह संसार के सभी भौतिक सुख का सेवन प्रारंभ में मीठे लगते है, परंतु इनका भोग और अंतिम परिणाम दु:ख का ही कारण बनता है ।

जिन्हें आत्मा के सच्चा स्वरुप और भौतिक सुखों की वास्तविकता का ख्याल आ गया हो, उन्हें इन भौतिक सुखों में आनंद कैसे आ सकता है ?

बालक जब छोटा होता है, तब वह खिलौने से खेलता है, रेती और पत्तों से महल बनाता है, परंतु जब वह थोडा बडा होता है और अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक पाता है, तब बचपन की अपनी ही चेष्टाओं पर उसे हँसी आती है । उसे वे सभी कार्य मुर्खता पूर्ण लगते है ।

वैसे ही आत्मिक ज्ञान से जिसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक प्राप्त हुआ हो, ऐसी योगी आत्माएँ ज्ञान को अपना सच्चा धन समझकर उसी में डुबी रहती है । जैसे-जैसे ज्ञान प्राप्त होता है, वैसे वैसे विवेकज्ञान और स्पष्ट बनता है, जो अपार आनंद का कारण बनता है ।

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी और शाश्वत है । ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा की सच्ची संपत्ति है । **अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अव्याबाध सुख, वीतरागता, अक्षय स्थिति, अरूपिता, अगुरुलघु और अनंतवीर्य ये आत्मा के मूलगुण है । परंतु आठ कर्मों ने आत्मा के इस स्वरुप को दबाकर अपनी मजबूत सत्ता जमा दी है । मोह की मदिरा पिलाकर ऐसा भ्रमित किया है कि आत्मा अपने सच्चे स्वरुप को पहचान ही न सके ।** सुदेव, सुगुरु और सुधर्म से दूर रखकर संसार को ही बढाने वाले कुदेव, कुगुरु और कुधर्म में ही बंधे रखा है । इसी कारण आत्मा संसार में खूब भटकी है । चारों गतियों में खूब दुर्दशाएं

सहन की है । ऐसे दुःखों को सहन करते हुए किसी विशिष्ट पुण्योदय से सद्गुरू का समागम हुआ । प्रभु के सत्य वचन जानने मिले । उन पर श्रद्धा पैदा हुई । तदनुसार आचरण करने की इच्छा भी जगी, परंतु शारीरिक अशाता आदि के कारण आचरण शक्य नहीं हुआ । अंत में समझ आयी, परंतु समय और शक्ति के अभाव में मात्र पश्चात्ताप ही शेष रहा ।

इसलिए विवेकी आत्माएँ पहले से ही जागृत होकर संसार के भौतिक सुखों को छोडकर जीवन को ज्ञानाभ्यास में बिताकर आत्मिक संपत्ति का संचय करती है ।

'संसारी जीवों का शरीर भोग और भोग के साधनों की प्राप्ति के लिए होता है, जब कि योगियों का शरीर ज्ञान प्राप्ति के लिए होता है ।'

सम्यग्ज्ञान की साधना में और प्राप्ति में जो आनन्द है उसे अज्ञानी कैसे जान सकता है ? मानसरोवर का आनन्द तो हंस लूटता है । विष्टा में आलोटने वाला सूअर उस आनन्द की कल्पना भी कैसे कर सकता है ?

समग्र विश्व में ज्ञेय पदार्थ अनन्त है, अतः ज्ञान भी अनन्त है । ज्यों-ज्यों पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध होता जाता है, त्यों-त्यों योगियों का हृदय आनन्द से भरता जाता है । उनका समग्र जीवन ज्ञान प्राप्ति के लिए होता है । जिस प्रकार ज्ञान असीम है, उसी प्रकार ज्ञान का आनन्द भी असीम है ।

श्रुतज्ञान महासागर सम है । चौदह पूर्वों का समावेश श्रुतज्ञान के अन्तर्गत हो जाता है । चौदह पूर्वधर महर्षि श्रुतकेवली कहलाते है । वे भी एक केवली की भाँति धर्मदेशना दे सकते हैं । श्रोताजन को पता ही नहीं चलता है कि वे केवल ज्ञानी हैं या श्रुतज्ञानी ।

श्रुत ज्ञान के बल से भी वस्तु के अनेक पर्यायों को आसानी से जाना जा सकता हैं ।

शशिप्रभ और सुरप्रभ

कुसुमपुर नगर में जितारि नाम का राजा था । उसके शशिप्रभ और सुरप्रभ नाम के दो पुत्र थे । वृद्धावस्था में राजा ने बडे पुत्र शशिप्रभ को राजा का पद और सुरप्रभ को युवराज पद प्रदान किया । राजा धर्माराधना में लीन बन गया ।

नूतन राजा सुरप्रभ अपनी प्रजा का परिवार की तरह पालन करने लगा । **एक दिन चारज्ञान के धारक मनः पर्यव ज्ञानी पूज्य आ. श्री धर्मघोषसूरीश्वरजी म. कुसुमपुर नगर में पधारे ।** राजा अपने भाई सुरप्रभ आदि परिवार के साथ आचार्य भगवंत के दर्शन हेतु गया ।

आचार्य भगवंत ने राजा की योग्यता जानकर वैराग्य सभर धर्म देशना प्रदान दी । लक्ष्मी की चंचलता, सत्ता की अस्थिरता और शरीर की क्षणभंगुरता का सुंदर वर्णन किया । धर्मदेशना सुनकर सुरप्रभ को प्रतिबोध हुआ । लक्ष्मी, सत्ता और शरीर की ऐसी स्थिति जानकर उसे अपने भविष्य की चिन्ता होने लगी ।

घर जाकर उसने अपने भाई शशिप्रभ से कहा-**''हे बंधु ! संसार के स्वरुप को जानकर मेरा मन संसार से उठ गया है । विष के समान इन विषय सुखों को छोडकर मैं दीक्षा के लिए तैयार हुआ हूँ । दीक्षा लेकर तप-संयम में उद्यम करके परलोक और मोक्ष सुखों को पाना चाहता हूँ ।''**

सुरप्रभ की इन बातों को सुनकर शशिप्रभ हैरान हो गया । वह भी प्रवचन श्रवण हेतु साथ में गया था, परंतु प्रवचन में उसे कोई रस नहीं था । इसलिए अपने भाई के मुंह से संसार त्याग की बातें सुनकर उसने प्रत्युत्तर दिया, **'हे भाई ! तुमको किसी ने ठग लिया है । प्राप्त सुखों के साधनों को छोडकर अगले जन्म के सुखों को पाने की इच्छा करना मुर्खता है । अगले जन्म के सुख किसने देखे है ? धर्म की बातों में कोई तत्थ्य नहीं है । आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि सभी बातें झूठी है । इसलिए उन बातों को छोड दो ।'**

शशिप्रभ की बाते सुरप्रभ को कांटों की तरह चुभने लगी । उसने अपने भाई को समझाते हुए कहा, **''यह तुम क्या कह रहे हो ? धर्म का फल प्रत्यक्ष है । हमें प्राप्त राज्य-वैभव पूर्वजन्म के पुण्य का ही तो फल है । पुण्य-पाप के कारण ही इस संसार में सारी विचित्रता है । एक सुखी है तो एक दु:खी है । एक रुपवान है तो एक कुरुप है । एक स्वस्थ है तो एक रोगी है, एक सौभाग्यशाली है तो एक दुर्भागी है । एक राजा है तो एक रंक है । यह सब पुण्य-पाप की लीला है । इसलिए प्राप्त हुए मनुष्य जन्म में पुण्य संचय और पाप नाश का ही कार्य करना चाहिए । इसी में मनुष्य जन्म की सफलता है ।''**

इस प्रकार समझाने पर भी शशिप्रभ भारी कर्मी होने से प्रतिबुद्ध नहीं हुआ । पर्वत पर गिरी वर्षा की तरह ये बातें शशिप्रभ के लिए निष्फल गई । **सुरप्रभ अपने निश्चय पर दृढ रहा । उसने आचार्य भगवंत के पास जाकर दीक्षा स्वीकार की । गुरु भगवंत की निश्रा में रहकर ज्ञान, ध्यान, तप-त्याग मय जीवन जीया ।** अंत समय में समाधि मरण से पाँचवें ब्रह्मदेवलोक में देव बना ।

इधर शशिप्रभ राज्य सुख में लीन रहा । कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक और व्रत-पच्चक्खाण के बिना मरकर तीसरी नरक में पैदा हुआ । यहाँ मनुष्य जन्म में थोडे वर्षों तक मौज की, परंतु नरक में असंख्य वर्षों तक परमाधामी देवता की मार खानी पडी । एक क्षण भी राहत नहीं है, नरक में ।

देवलोक के दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए सुरप्रभ देव को एक बार अपनी पूर्व जन्म के भाई की याद आयी । उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । शशिप्रभ की आत्मा को नरक के भयंकर दु:खों को सहन करते देखा । स्नेह के कारण नरक भूमि में आकर अपने भाई की आत्मा के आगे अपना पूर्वभव का स्वरुप बताया । प्रतिबोध देने हुए कहा–**''हे भाई ! पूर्व भर्व में तुमने मेरी बात नहीं मानी तो आज तुझे नरक में उत्पन्न होना पडा ।''** शशिप्रभ की आत्मा ने भी विभंगज्ञान के माध्यम से

अपना पूर्वजन्म देखा । अपनी गल्तियों का उसे खूब पश्चात्ताप हुआ । पूर्व जन्म में किये शरीर के पालन पोषण में बंधे पाप कर्मों से आज मेरी यह हालत हुई है ।

वह सुरप्रभ देवे को बोला, **'हे भाई ! पूर्वभव में विषय की लम्पटता के कारण मैंने धर्म नहीं किया, इसलिए नरक में आया हूँ ।' अब तुम वहाँ जाकर मेरे उस शरीर को खूब पीडा दो, भूमि पर पडे उस शरीर की खुब कदर्थना करो, जिससे मैं नरक से निकल जाऊँ ।**

तभी सुरप्रभ देव ने कहा–**''हे भाई ! इससे क्या ? जीव रहित पूर्वभव के शरीर की कदर्थना से क्या लाभ होगा ? यदि पूर्वभव में ही अपने शरीर को तप-त्याग में तपाया होता, तो आज तुम नारक नहीं बनते । अब अपने किये हुए कर्मों की सजा को सहन करो । तुम्हारे दुःखों को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है । अब तुम्हें दुःखों से मुक्त करने में कोई समर्थ नहीं है ।''** इतना कहकर सुरप्रभ देव अपने स्थान में चला गया ।

दो भाइयों की यह कथा हमे संदेश देती है कि–

(1) अपने पुण्य-पाप का फल हमे स्वयं ही अनुभव करना पडता है । पुण्य से प्राप्त सुख और पाप से प्राप्त दुःख को कोई भी दूर नहीं कर सकता है ।

(2) मनुष्य शरीर की सफलता पाँच इन्द्रिय के भोगों में नहीं परंतु इससे ऐसी साधना करनी चाहिए कि हमेशा के लिए जन्म-जरा और मृत्यु की परंपरा टूट जाय ।

देहममत्व त्याग

त्वङ्मांस-मेदोऽस्थि-पुरिष-मूत्र-
पूर्णेऽनुरागः कुणपे कथं ते ?
दृष्टा च वक्ता च विवेकरूप-
स्त्वमेव साक्षात् किमु मुह्यसीत्थम् ॥6॥ (उपजाति)

शब्दार्थ

त्वङ्=त्वचा, चमडी,
मांस=मांस,
मेद=चर्बी,
अस्थि=हड्डियाँ,
पुरिष=विष्टा,
मूत्र=मूत्र,
पूर्णे=इन से भरे,
अनुराग=प्रीति, ममत्व,
कुणपे=देह में,
कथं ते=तुझे क्यों होता है ?
दृष्टा=देखनेवाला,
वक्ता=बोलनेवाला,
च=और,
विवेकरुपः=देह और आत्मा के भेदज्ञान स्वरुप विवेकवाला,
त्वमेव=तुम ही हो,
साक्षात्=प्रत्यक्ष रूप से,
किमु=तो फिर (वितर्क में)
मुह्यसि=तुम मोहित होते हो,
इत्थम्=इस प्रकार से ।

गाथार्थ

हे आत्मन् ! त्वचा, मांस, चर्बी, हड्डियाँ, विष्टा और मूत्र से भरे हुए इस देह में तुझे इतना ममत्व क्यों है ? वास्तव में प्रत्यक्ष रुप में आत्मिक गुणों को देखने वाला, कहनेवाला और विवेक स्वरुप तू स्वयं ही है, तो फिर शरीर के विषय में तू इस प्रकार मोहित क्यों है ?

विवेचन

पिछली दो गाथाओं में देह का स्वरुप और देह के उपयोग की सार्थकता का उपदेश देकर पुनः इस गाथा में देह पर रहे ममत्व को तोडने का उपदेश दिया है ।

एक बार देह का स्वरुप बताने पर भी पुनः इस गाथा में देह के ममत्व त्याग का उपदेश देने का यही कारण है कि हमारी आत्मा का भवभ्रमण देह के ममत्त्व के कारण ही है । **धन, स्वजन, मित्र, परिवार, जमीन, जायदाद आदि सभी बाह्य पदार्थों का ममत्व छोडना आसान है, परंतु देह के ममत्व का त्याग सबसे कठिन है ।**

देह के ममत्व को छोडने के लिए उसकी वास्तविकता जानना खूब जरुरी है । देह का वास्तविक बोध होने पर उसके प्रति रहे ममत्व का त्याग आसान हो सकता है । जैसे कोई झवेरी दुकान पर किसी ग्राहक के साथ करोड़ों का सौदा कर रहा हो, उसी समय पीछे से कोई कान के पास आकर झवेरी को मात्र इतना कह दे **''सावधान रहना, यह ग्राहक नहीं बल्कि बडा ठग है ।''** यह सुनते ही उस झवेरी का सारा बर्ताव बदल जाएगा । अपने श्रम और फायदे को भी गौण करके वह झवेरी उस सौदे को रद्द कर देगा ।

बस, इसी आशा से ग्रंथकार भी इस गाथा के द्वारा हमें शरीर की वास्तविकता बता रहे है । **ग्रंथकारश्री हमें प्रेरणा देते हुए कहते है कि जिस शरीर पर तू अत्याधिक राग करके नवीन कर्मों का बंध कर रहा है, वह शरीर भीतर से मांस, चर्बी, हड्डियाँ, विष्ठा और मूत्र से भरा हुआ है । बाहर से मात्र चमडी का आवरण है, और वह चमडी भी कोई सुंदर पदार्थ नहीं है । यह शरीर बाहर और भीतर दोनों ओर से अत्यंत बिभत्स है । ऐसे गंदगी से भरे शरीर पर तू इतना ममत्व क्यों रखता है ?**

यह मात्र गंदगी से भरा हुआ ही नहीं बल्कि अनित्य और क्षणभंगुर भी है । इस शरीर के प्रति ममत्व करने के बजाय तुझे इसमें रही आत्मा

को जानना चाहिए । तेरे शरीर से तेरी आत्मा का स्वरुप पूर्णतया विपरीत है ।

शरीर अशूचिमय है तो आत्मा परम पवित्र शूचिमय है । शरीर अनित्य और क्षणभंगुर है तो आत्मा नित्य और अविनश्वर है । शरीर कमजोर है तो आत्मा सर्व शक्तिमान है । शरीर के साथ जन्म, जरा और मरण की परंपरा जुडी है, तो आत्मा-अजन्मा अजर और अमर है ।

आत्मा की अनंत गुण समृद्धि के सामने शरीर अति तुच्छ, हीन और नगण्य चीज है । यावत् शरीर की कीमत भी आत्मा के आधार पर है । शरीर में से आत्मा निकल जाय, तो इस शरीर की कोई कीमत नहीं है । संसार में आत्मा शरीर के बिना कभी रहती नहीं है । कम-से-कम तैजस और कार्मण-ये दो शरीर तो आत्मा के साथ हमेशा रहते हैं । ये दोनों शरीर अदृश्य है । आत्मा जिस गति में जाती है, वहाँ इन दोनों शरीरों को साथ में लेकर जाती है । परलोक में देव और नरक गति में वैक्रिय शरीर एवं मनुष्य और तिर्यंच गति में औदारिक शरीर का निर्माण करती है । शरीर के रुप में जो व्यवहार होता है, वह औदारिक और वैक्रिय शरीर के साथ ही होता है ।

सडन, गलन आदि विशेष परिवर्तन मात्र औदरिक शरीर में ही होता है । औदारिक शरीर अतिगंदा है, फिर भी धर्म का साधन औदारिक शरीर ही है ।

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** चारों गतियों के स्वरुप बताते हुए कहते थे **'सद्धर्म की आराधना करने के लिए सुख, दुःख और भूख तीनों बाधक है । देवगति में अपार सुख है, नरक गति में अपार दुःख है और तिर्यंच गति में अपार भुख है । इसलिए इन तीनों गतियों में धर्म की आराधना सुलभ नहीं है । मात्र मनुष्य गति में ही धर्म की आराधना सुलभता से की जा सकती है, क्योंकि यहाँ न तो अति सुख है, न अति दुःख है, और न ही अति भूख है' ।**

मुक्ति की पूर्ण साधना विरति धर्म से ही हो सकती है । देव और नरक के जीवों को विरति की आराधना शक्य नहीं है । देवता प्रभु के समवसरण में जाकर प्रभु की वाणी का श्रवण कर सकते है । मेरु पर्वत पर प्रभु का भव्य जन्माभिषेक कर सकते हैं ।

नंदीश्वर द्वीप आदि तीर्थों पर श्रेष्ठ भक्ति कर सकते हैं । परंतु एक सामायिक की अल्पतम कालीन विरति की आराधना भी नहीं कर सकते हैं । चौदह गुणस्थानकों की अपेक्षा उनका विकास मात्र चौथे गुणस्थानक तक ही है।

नरक के जीव जब तक आयुष्य पूर्ण न हो तब तक नरक में रहते हैं । उनके भाग्य में परमात्मा की भक्ति तो नहीं है, फिर भी वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकते हैं ।

यावत् सातवीं नरक में रहा जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, परंतु विरति की आराधना वे जीव नहीं कर सकते है । उनका भी आत्म विकास मात्र चौथे गुणस्थानक तक ही है ।

तिर्यंच गति के जीवों के लिए विरति धर्म की आराधना शक्य है । वे आंशिक पाप त्याग स्वरुप देश विरति स्वीकार सकते हैं परंतु देशविरति स्वीकार करने वाले तिर्यंचों की संख्या कितनी ? अति अल्प । एक ओर अपार भूख तो दूसरी ओर अज्ञानता, अविवेक, पराधीनता, भय, माया आदि के कारण उनके व्रत-नियम आदि स्वीकार का प्रमाण बहुत कम है ।

परमात्मा के समवसरण में जाकर, प्रतिबोध पाकर वे व्रत-नियम आदि स्वीकार सकते है, परंतु सर्व संग के त्याग स्वरुप सर्वविरति का स्वीकार तो मात्र मनुष्य ही कर सकता है । इसलिए मोक्ष में जाने का अधिकार मात्र मनुष्यों को मिला है । तिर्यंच का विकास मात्र पांचवें गुणस्थानक तक हो सकता है । मनुष्य ही चौदह गुणस्थानक को प्राप्त कर सकता है ।

तीर्थंकर परमात्मा श्री महावीर स्वामी ने भी अपनी अंतिम देशना स्वरुप **उत्तराध्ययन सूत्र** के **चतुरंगीय अध्ययन** में कहा है–

चत्तारी परमंगाणि, दुल्लहाणि य जंतुणो,
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमंमि य विरयं ।।

अर्थात् – संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा को मनुष्य जन्म, धर्म श्रवण, धर्म-श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ ये चार चीजें अत्यंत दुर्लभ है ।

मनुष्य के शरीर से देवों का शरीर अत्यंत सुंदर और तेजस्वी है । देवों के शरीर में कोई रोग, या गंदगी नहीं है । जबकि मनुष्य का शरीर भयंकर रोग और गंदगी से भरा है । फिर भी सर्वज्ञ परमात्मा असंख्य देवता की हाजरी में देव जन्म के बजाय मनुष्य जन्म की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते है ।

देवों को दुर्लभ ऐसा मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी शरीर के प्रति रही आसक्ति के कारण अधिकांश मनुष्य तुच्छ भोगों को पाने और उन्हें भोग करने में अपना जीवन गंवा देते है । देवताई भोग साधनों के सामने मनुष्य के भोग अति तुच्छ है । **खान-पान की सामग्रियाँ एकदम नकली है । सब्जियाँ, फल और अनाज हानिकारक रसायणों के माध्यम से पकाये जाते है । मिलाई निकालकर डिब्बे में भरा बासी दुध बाजारों में बिकता है । घी में मरे हुए पशुओं की चर्बी मिलाई जाती है । यावत् पानी भी शुद्ध नहीं है ।** मात्र जीभ को स्वादिष्ट लगने वाला नमकिन, मीठा और चटपटा भोजन वास्तव में पौष्टिकता से शुन्य है ।

बाह्य सामग्रियाँ तो नकली है ही, शरीर भी नकली है । इस शरीर में भी कोई ताकत नहीं है । कइयों का जीवन मात्र दवाइयों के आधार पर चलता है । पहले भूख लगने के लिए दवाई, फिर पचाने के लिए दवाई और अंत में पेट साफ करने के लिए भी दवाई लेनी पड़ती है । थोडा ज्यादा भोजन लेने पर पेट खराब हो जाता है । कम भोजन लेने पर शरीर में कमजोरी आती है । न जाने कितनी पराधीनता इस शरीर के कारण है, फिर भी इस शरीर के प्रति ममत्व कम नहीं होता है ।

शंका-शरीर इतना कमजोर है, इसलिए ही इसका ज्यादा ध्यान रखना पडता है । यदि शरीर को न संभाले तो धर्म की आराधना भी नहीं हो सकती है क्योंकि धर्म के लिए भी शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है न ?

समाधान-बेशक शरीर के माध्यम से ही धर्म आराधना की जा सकती है । **प्रारंभ में यदि शरीर साथ न दे तो तप-त्याग आदि आराधना करना अशक्य हो जाता है और मन भी दुर्ध्यान ग्रस्त रहता है ।** इसलिए शरीर ही तप-त्याग आदि बाह्य धर्म साधना का साधन है, इस बात में कोई दो राय नहीं है । परंतु साधन ही जीवन का साध्य बन जाय और धर्माराधना से विमुख बना दे तो वह साधन भी क्या काम का ?

जैसे–लिफाफे की कीमत भीतर रहे चेक Check के कारण है । सुटकेस की कीमत भीतर रहे सामान के कारण है । बोतल की कीमत भीतर रहे पानी के कारण है । केप्सुल की कीमत भीतर रहे रसायण (दवाई) के कारण है । मकान की कीमत भीतर रहे परिवारजनों के कारण है । मंदिर की कीमत भीतर रहे परमात्मा के कारण है । **वैसे शरीर की कीमत भीतर रही आत्मा के कारण है ।**

चेक की उपेक्षा कर जो मात्र लिफाफे को सजाता है, सामान की उपेक्षा कर जो मात्र सूटकेस का ध्यान रखता है, पानी को गिराकर जो मात्र बोतल की सुंदरता को देखता है, रसायण को फेंक कर जो मात्र बाहर के केप्सुल को दवाई मानता है, परिवारजनों को नाराज कर जो मात्र मकान को संभालता है और परमात्मा की आशातना करके जो मात्र मंदिर का जीर्णोद्धार करता है, उसे दुनिया मुर्ख और महामुर्ख का इल्काब देती है, तो फिर आत्म साधना को भूलकर जो मात्र शरीर की ही देखभाल करता है, उसे क्या कहेंगे ?

जीवन का अधिकांश समय मात्र शरीर की स्वस्थता, सुख के साधन को पाने और उसके लिए अर्थार्जन में ही पूरा हो जाता है । दिन-रात के 24 घंटों में 8-9 घंटे तो निद्रा में चले जाते है । शेष समय में जितनी भी क्रियाएँ होती है, उसका मुख्य केन्द्र मात्र शरीर ही होता है । 24 घंटों में आत्मा तो याद ही नहीं आती ।

शरीर की शुद्धि के लिए दिन में 2-3 बार स्नान करते है, परंतु आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण याद ही नहीं आता । शरीर की स्वस्थता के

लिए 5-10 किलोमीटर मोर्निंग वॉक करते है, परंतु सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति के लिए चैत्य परिपाटी, विहार आदि याद ही नहीं आते हैं । **प्रतिदिन शरीर की सभी प्रकार से देखभाल करते है, परंतु प्रभु की अष्टप्रकारी पूजा याद ही नहीं आती है ।** रोग, शोक और आपत्ति में डॉक्टर, वकील और राजनेता की शरण लेते है, परंतु देव-गुरु और धर्म की याद ही नहीं आती है ।

इतना संभालने पर भी यह शरीर कहां तक साथ देता है । मौज-शौक और खेल फुद में व्यक्ति खूब उत्साहित होकर शरीर से काम लेता है । परंतु खमासमण देने, विधिपूर्वक वांदणा आदि क्रिया करने में कमर और घुटने दुखने का बहाना करता है । निंदा, पराई पंचायत, गप्पे लगाने और पैसे कमाने के लिए व्यक्ति घंटों तक खडे रहता है परंतु कायोत्सर्ग आदि आत्म साधना में कमजोर बन जाता है । इतना बेवफा होने पर भी शरीर का ममत्व छूटता नहीं है । आत्मा की चिंता नहीं होती । आत्मा की चिंता करने का अवसर भी मात्र इस मनुष्य जन्म में ही प्राप्त हुआ है । अब यदि सावधान नहीं बने तो अनंत काल का भविष्य बिगड जाएगा ।

न जाने आगामी भव किस गति में प्राप्त होगा । वहाँ कौन-सी स्थिति होगी ? कुछ नहीं कह सकते । अतः इस जन्म को सुधार लेना चाहिए ।

``हे आत्मन् ! तू अपना सच्चा स्वरुप जान ले । तू शरीर नहीं, अनंत गुणों की भंडार आत्मा है । शरीर मात्र एक भव का साथी है, इसे यही छोडकर जाना है । अतः इसकी चिंता को छोडकर अपनी चिंता कर । इस शरीर के पीछे मोहित मत बन । देह और आत्मा के विवेक को जागृत कर । जब तक आत्मा और देह का विवेक जागृत नहीं होगा, तब तक आत्म साधना में उत्साह पैदा होना शक्य नहीं है ।

जिन महापुरुषों ने इस विवेक को जागृत किया है वे मरणांत कष्टों को भी समतापूर्वक सहन कर केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर चूके है ।

• मस्तक पर अंगारे जल रहे थे, फिर भी **गजसुकुमाल महामुनि** अपने देह को पराया मान रहे थे । अंगारे डालनेवाले सोमिल ब्राह्मण को अपना सच्चा श्वसुर और अंगारों को मुक्ति कन्या के साथ विवाह की पघडी मान रहे थे ।

• जीते जी चमडी उतारी जा रही थी, फिर भी समता साधक **श्री खंधक मुनि** चमडी उतारने वाले राजसेवक को भाई से भी अधिक मान रहे थे । देह के कष्ट को गिने बिना समता रस में स्नान करके मोक्ष में चले गए ।

• चारों ओर से आग लगाने वाली धनश्री पत्नी के प्रति भी **धन महामुनि,** दुर्भाव करने के बजाय उसकी आत्मा की चिंता कर रहे थे–**''मेरे आलंबन से इसकी आत्मा भयंकर पाप कर्म का बंध कर रही है ।''** (समरादित्य चरित्र)

इन महापुरुषों के जीवन चरित्र हमें यही संदेश देते है कि शरीर की स्वस्थता को केन्द्र में रखकर आत्म साधना अशक्य है । आत्म साधना के लिए तो शरीर का कस निकालना पडेगा । जैसे आम को चूसने वाला जब तक उसमें से रस निकलता है, तब तक उसे चुसते रहता है । वैसे ही इस शरीर का कस निकालते हुए आत्म साधना में स्थिर होना है । शरीर एक दिन मिट्टी में मिलने वाला है, तो क्यों न इससे आत्म साधना कर ले ।

इस शरीर को टिकाने के लिए भोजन भी जरुरी है, परंतु उसे भी परिमित मात्रा में और भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक करके ही पोषण देना चाहिए । अभक्ष्य-मांसाहार कंदमूल आदि भोजन करके शरीर को पुष्ट करने में अथवा स्वादिष्ट भोजन देकर जीभ को संतुष्ट करने में आत्मा की बर्बादी ही है ।

धन का ममत्व त्याग

धनं न केषां निधनं गतं वै,
दरिद्रिणः के धनिनो न दृष्टाः ।
दुःखैकहेतौ विभवेऽतितृष्णां,
त्यक्त्वा सुखी स्यादिति मे विचारः ।।7।। (उपजातिः)

शब्दार्थ

धनं=धन / द्रव्य,
न=नहीं,
केषां=किस पुरुषों का,
निधनं=नाश,
गतं=हुआ है,
वै=वितर्क में,
दरिद्रिण=निर्धन,
के=कौन,
धनिनो=धनवान,
न=नहीं,
दृष्टा=देखे गए है,
दुःखैकहेतौ=दुःख का एक मुख्य कारण,
विभवे=धन में,
अतितृष्णा=लोलुपता,
त्यक्त्वा=त्याग करके,
सुखी=समाधि वाला,
स्याद्=हो जा,
इति=इस प्रकार,
मे=मेरा,
विचारः=विचार है ।

गाथार्थ

किस का धन नष्ट नहीं हुआ ? (अर्थात् बहुतों का), कौन निर्धन धनवान नहीं देखे गये है ? (अर्थात् बहुत देखे गए हैं । दुःख का एक मात्र कारण धन-वैभव में लोलुपता है । उसका त्याग करके सुखी हो जा, यह मेरा विचार है ।

विवेचन

पिछली तीन गाथाओं में देह के ममत्व त्याग का उपदेश दिया, अब ग्रंथकार धन के ममत्व त्याग हेतु प्रेरणा दे रहे है । **धन का संयोग अस्थिर है ।** दुनिया में कई लोग ऐसे देखे गए है, जो अतिधनवान होने पर भी काल क्रम से कंगाल हो चुके है, तो कई लोग ऐसे देखे गए है, जो निर्धन होने पर पुण्य के प्रभाव से धनवान बन चुके हैं !

धर्म शास्त्रों में धन-वैभव लक्ष्मी संपत्ति आदि को चपल बताते हुए अनेक उपमाएँ दी है ।

(1) धन-वैभव :– कमल के पत्ते पर रहे जल बिंदु के समान अत्यंत ही चंचल है । कमल के पत्ते पर रहे जल बिंदु का अस्तित्व कितनी देर तक रहता है ? सूर्य किरण के स्पर्श होते ही वह हवा में उड जाता है । अथवा पवन का एक झोंका उस जलबिन्दु के अस्तित्व को समाप्त कर देता है । वैसे ही इस संसार में धन-संपत्ति आदि जो वैभव दिखाई देता है, वह भी इस जलबिन्दु की भांति अत्यंत ही चपल, चंचल और अस्थिर है ।

सूर्य की किरणें जब उस जलबिन्दु पर पडती है, तब प्रारंभ में तो वह जलबिन्दु मोती की तरह चमकता है । **परंतु कुछ ही क्षणों में उसी सूर्य की किरणें उसके अस्तित्त्व को नष्ट कर देती है ।** उसी प्रकार धन-वैभव होने पर व्यक्ति मौज-शोक, एशो-आराम के पापाचरण में जुड जाता है, परंतु वही पापाचरण व्यक्ति को कंगाल कर देता है ! चंद क्षणों में ही नष्ट हो जाने वाले क्षणिक वैभव का क्या विश्वास करना ?

2) लक्ष्मी :– हाथी के कान की तरह चंचल है । हाथी की काया दिखने में अतिस्थूल है । परंतु उसके कान ही उसकी कमजोरी है । यदि चींटी आदि कोई क्षुद्र जंतु उसके कान में चला जाय तो उसकी मृत्यु भी हो सकती है । इसी कारण हाथी दिन-रात अपने कानों को हिलाता रहता है । जिस प्रकार हाथी के कान स्थिर नहीं रहते हैं, उसी तरह अतिकष्ट से प्राप्त हुई लक्ष्मी भी स्थिर नहीं रहती है ।

लक्ष्मी स्वभाव से ही चंचल है । यह जानते हुए भी व्यक्ति जिंदगी भर अर्थार्जन करता रहता है । लक्ष्मी की वृद्धि और रक्षा करने में ही प्रवृत्त रहता है । लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए स्वजन-वर्ग, मित्र-परिवार व पुत्र से भी विरोध करता है । **परंतु अंत में वही लक्ष्मी उसे छोडकर अन्य मार्ग में चली जाती है । जैसे वेश्या धनहीन पुरुष को छोडकर अन्य धनवान पुरुष का आश्रय करती है, वैसे ही लक्ष्मी भी पुण्यहीन पुरुष को छोडकर पुण्यशाली पुरुष का आश्रय करती है ।** लक्ष्मी के छोडने पर उसमें रागी पुरुष दुःखी होता है, परंतु क्या कभी ऐसा होता है कि पुरुष के छोडने पर लक्ष्मी दुःखी हुई हो ? न भूतो-न भविष्यति । ऐसी चंचल लक्ष्मी का क्या विश्वास करना ?

3) संपत्ति समुद्र की लहर के समान चंचल है । जैसे समुद्र के पानी में मोजे उछलते रहते हैं और उसमें तरंगे पैदा होती रहती है, परंतु उन तरंगें का अस्तित्व कुछ ही देर के लिए होता है । चंद क्षणों में ही वे तरंगे समुद्र के जल में विलीन हो जाती है । वैसे ही पुण्य के उदय से प्राप्त हुई संपत्ति भी जल में पैदा होने वाली तरंगों की तरह अत्यंत चंचल है । पाप का उदय होते ही करोडों की संपत्ति का मालिक भिखारी बन जाता है ।

धन-वैभव, लक्ष्मी और संपत्ति सभी अत्यंत ही चंचल है । जब तक इनकी आसक्ति नहीं टूटती है, तब तक आत्म साधना में आगे बढना असंभव है । **जिस वस्तु या व्यक्ति पर हमें आसक्ति हो, उसे तोडने के लिए उसके दोषों और दुर्गुणों का चिन्तन करना चाहिए ।** इसलिए ग्रंथकारश्री ने धन की आसक्ति को तोडने के लिए उसका सबसे बडा दुर्गुण चंचलता बता रहे है ।

चंचलता दोष के कारण इस धन संपत्ति ने अपने कई घर बदले है । वह कहीं पर स्थित नहीं हुई । भूतकाल में ऐसे कई महापुरुष हो गए जिनको इस धन की चंचलता से अत्यंत दुःखी होना पडा है । उनके जीवन की झलक देखते है–

1) नल राजा

कोशला देश के निषध राजा के दो पुत्र थे नल और कुबेर । पिता निषध राजा ने नल को राज्य पर स्थापित किया और कुबेर को युवराज पद दिया ।

निषध राजा ने दीक्षा स्वीकार कर अपना आत्मकल्याण किया । न्याय नीति पूर्वक राज्य का पालन करते हुए नल राजा की प्रसिद्धि बढने लगी । बडे भाई की प्रसिद्धि कुबेर को अखरने लगी । वह कैसे भी राज्य पाना चाहता था । बल से नहीं तो कल से ही सही, उसे तो नल को भ्रष्ट करके राज्य पाना था ।

आखिर उसने नल राजा को जुए के व्यसन में ऐसा फंसाया कि वह राज्य का कारोबार भूलकर दिन-रात जुआं खेलने लगा ।

पत्नी दमयंती एवं मंत्री आदि के खूब समझाने पर भी वह अपने व्यसन से नहीं रुका । एक दिन कुबेर के साथ जुआं खेलते हुए राज्य आदि संपत्ति, यावत् पत्नी दमयंती को भी हार गया । खाली हाथ कई दिनों तक उसे जंगल में रहना पडा । 12 वर्ष तक पत्नी का विरह रहा और सुसुमार नगर में दधिपर्ण राजा के पास रहकर रसोई बनानी पडी । महासती दमयंती को भी 12 वर्ष तक जंगलों रहकर खुब दु:ख सहन करने पडे ।

2) सागरदत्त सेठ

सागरदत्त सेठ के पास अपार सम्पत्ति थी । उसका करोड़ों रुपयों का व्यवसाय था । उसके पास सोने के 500 थाल थें । **वह सोने की शिला पर बैठकर प्रतिदिन स्नान करता था । उसकी धर्म दृढ़ता की प्रशंसा स्वयं सौधर्मेन्द्र ने की थी । उस समय एक मिथ्यादृष्टि देव उसकी परीक्षा लेने के लिए आया ।** पहले तो उसने सेठ को खूब धमकाया, परंतु उसे अटल जानकर, उसकी सारी संपत्ति नष्ट कर दी ।

सेठ के पाप कर्म के उदय से करोड़ों की सम्पत्ति से भरे जहाज

समुद्र में डूब गए । आगे चलकर सभी 500 सोने के थाल एवं स्नान करने की सोने की शिला हवा में उडकर उदयचंद सेठ के पास चली गई । वर्षों से चल रही पेढी में आग लग गई । लेनदारों को पैसे चुकाते-चुकाते वह कंगाल हो गया । रहने का घर भी छोड देना पडा ।

पत्नी तारामती और पुत्र गुणदत्त और गुणचन्द्र के साथ सागरदत्त सेठ को अपना घर-अपना गांव छोड देना पडा । **जीवन में अपार कष्ट सहन करने पडे । कइयों के घरों में नौकरी करनी पडी । पूरा परिवार बिछुड गया । फिर भी सागरदत्त सेठ ने अपनी धर्मश्रद्धा नहीं छोडी । पापोदय पूर्ण होने पर पुनः परिवार का मिलन हुआ । गुणदत्त राजा बना । गुणचन्द्र की आँखों के आँसु मोती बने ।** गई हुई सारी संपत्ति वापस आ गई । आगे चलकर सागरदत्त सेठने गुरुभगवंत के पास दीक्षा स्वीकार कर आत्म कल्याण किया ।

3) भीमसेन राजा

राजगृही नगरी के गुणसेन राजा के भीमसेन और हरिषेण नाम के दो पुत्र । भीमसेन को राजा और गुणसेन को युवराज पद पर स्थापित कर गुणसेन राजा ने दीक्षा ली । दोनों भाइयों में राम लक्ष्मण जैसा प्रेम था । दोनों की पत्नियाँ सुशीला और सुरसुंदरी में भी सगी बहनों जैसा प्रेम था ।

परंतु एक दिन आम फल के निमित्त से दोनों की दासियों के बीच झगडा हो गया । दासियों के झगडे की असर सुरसुंदरी पर हुई । उसकी दासी विमला ने उसे खूब भडकाया । बात यहाँ तक पहुँच गई कि छोटाभाई गुणसेन अब राज्य पाने के लिए बडे भाई भीमसेन के पूरे परिवार के खून का प्यासा बन गया । **उसने राजा को मारने का षड्यंत्र बनाया । राजा को इस बात की गंध आ गई । वह रात्रि में अपनी पत्नी सुशीला और दो पुत्र देवसेन-केतुसेन के साथ जंगल में चला गया । साथ रखे गहने भी चोरों ने चुरा लियें । बचे हुए गहने बंदर लेकर चला गया ।**

अत्यंत ही दीन अवस्था में कई वर्ष बडी मुश्किल में गुजारे । कई बार तो ऐसे भी प्रसंग आये कि भीमसेन को आत्महत्या करने के लिए

मजबूर होना पडा । **फिर काल ने पलटा खाया । परिस्थिति सुधरी । पुण्योदय जगा और सारी सम्पत्ति प्राप्त हो गई ।** अंत में दीक्षा लेकर भीमसेन राजा केवली बनकर मोक्ष में गए ।

4) पेथडशाह महामंत्री

प्रारंभिक अवस्था में वे धनहीन थे । **आचार्य भगवंत ने जब परिग्रह परिमाण का महत्त्व बताया, तब वे मात्र पांच सोनामोहर का परिग्रह परिमाण करने के लिए तैयार हो गए थे ।** आचार्य भगवंत ने उनके भविष्य को जानकर रकम बढाने की प्रेरणा की । अंत में पांच लाख सोनामोहर का परिग्रह परिमाण का व्रत लिया ।

धर्म के प्रभाव से स्थिति बदल गई । आगे चलकर मांडवगढ के महामंत्री बने । आबू पर्वत के जंगलों में प्रयोग करते हुए उन्हें स्वर्णसिद्धि हासिल हो गई । अपार संपत्ति के मालिक बनकर उस संपत्ति का सात क्षेत्रों में वपन किया । अपने जीवन में उन्होंने इतने सुकृत किये कि उनके जीवन चरित्र को **'सुकृत सागर'** नाम दिया गया ।

5) वस्तुपाल तेजपाल

उनके जीवन में एक दिन ऐसा भी था कि मरण शय्या पर पडे अपने भाई लुणिग की चिकित्सा के लिए पैसे नहीं थे । **समय ने पलटा खाया, आगे चलकर वे धोलका नगर में मंत्री पद पर स्थापित किये गए । एक बार तीर्थ यात्रा के लिए जाते समय अपने पास रहा धन जमीन में गाडने गए ।** पुण्योदय ऐसा था कि वहाँ से नया धन प्रकट हुआ । दोनों भाइयों ने अपने जीवन में इतने शासन प्रभावना के कार्य किये कि वे दोनों जैन शासन में सूर्य-चन्द्र की भांति तेजस्वी बनकर प्रकाश फैला गए ।

सत्यवादी हरीचंद्रराजा, पांच पांडव, पुणिया श्रावक, जिरण सेठ, भीमा कुंडलिया, कुमारपाल महाराजा आदि ऐसे अनेक दृष्टांत है जिनके जीवन में लक्ष्मी की चंचलता ने सुख-दु:ख के दोनों चेहरे दिखाए है । **अत: लक्ष्मी को चंचल जानकर उसमें रही तृष्णा के त्याग का प्रयत्न करना चाहिए ।**

चंचलता के साथ धन अनेक दु:खों का कारण भी है । कहा है–

अर्थानामर्जने दु:खमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दु:खं व्यये दु:खं, धिगर्थं दु:खभाजनम् ।।

धन कमाने में दु:ख है, कमाने के बाद रक्षण करने में दु:ख है । धन आने पर दु:ख देता है और जाने पर भी दु:ख देता है । दु:ख के एक कारण रुप इस धन को धिक्कार हो ।

लोक में धन को दौलत रुप कहा है । दौलत दो लात मारती है । एक आते समय, दूसरी जाते समय । आते समय आगे से लात मारकर व्यक्ति को अक्कड और अभिमानी बना देती है । **जाते समय पीछे से लात मारकर कमर तोड देती है ।** दोनों अवस्था में व्यक्ति दु:खी होता है । कदाचित् शारीरिक दु:ख न भी हो तो भी मानसिक दु:ख तो अवश्य होता ही है ।

नहीं प्राप्त हुई वस्तु को पाने की इच्छा-तृष्णा है और प्राप्त हुई वस्तु को त्याग नहीं करने की इच्छा-मूर्च्छा है । ये दोनों दोष धन के साथ अवश्य जुडे रहते है । इन दोनों दोषों से मुक्त हुए बिना व्यक्ति कहीं भी सुख का अंश भी प्राप्त नहीं कर सकता है । कहा है–

दाम बिना निर्धन दु:खी, तृष्णा वश धनवान,
सुखी न देख्यो जगत् में, सब जग लियो मैं छान ।

दिन में दीपक लेकर ढुंढा जाए तो भी कहीं पर कोई व्यक्ति सुखी नहीं मिलेगा । उसका कारण एक मात्र तृष्णा है । **जितना प्राप्त होता है उतना कम ही लगता है । ज्यादा से ज्यादा पाने की इच्छा में प्राप्त हुए धन का आनंद भी अनुभव नहीं होता है ।**

तृष्णा के वश हुआ व्यक्ति दीन बन जाता है । जहाँ जाता है, वहाँ रोता रहता है । **हाथ जोडकर रंक की तरह सर्वत्र प्रार्थना करता रहता है । मंदिर में जाकर प्रभु से भीख मांगने का ही काम करता है ।** मंदिर के बाहर बैठा भिखारी तो 10-20 रुपये की भीख मांगता है, जबकि

तृष्णावाला व्यक्ति भगवान के पास जाकर लाखों-करोडों की भीख मांगता है ।

ज्ञानसार नाम के महान ग्रंथ में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी ने निःस्पृहता अष्टक में कहा है–

स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते, लघवस्तृणतूलवत् ।
महाश्चर्यं तथाप्येते, मज्जन्ति भववारिधौ ।।5।।

अर्थात्–घास का तिनका हल्का होने से कभी पानी में डुबता नहीं है । तृष्णा वाला व्यक्ति घास के तिनके से भी हल्का है । फिर भी बडा आश्चर्य है कि वह संसार रुपी समुद्र में डुब जाता है ।

तृष्णा के कारण व्यक्ति अपना जीवन ज्यादा से ज्यादा अर्थार्जन करने में पूरा कर देता है । **परंतु जितना अर्जन करता है, उसका अंश मात्र भी स्वयं उपभोग नहीं कर पाता है ।** स्वयं सिर्फ मजदूरी करता है, मजा तो कोई और ही लेता है । इतिहास समुच्चय नाम के ग्रंथ में लिखा है–

कीटिकासञ्चितं धान्यं, मक्षिका सञ्चित मधु ।
कृपणैः सञ्चितं वित्तं, परैरेवोपभुज्यते ।।

अर्थात्–चींटी का इकट्ठा किया धान्य, मक्खी द्वारा इकट्ठा किया मधु और कंजुस के द्वारा इकट्ठा किया धन कोई और ही खाता है ।

ऐसी स्थिति में धन के पीछे रही आसक्ति तृष्णा को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए ।

जैसे शक्कर के प्रत्येक कण में मिठास है ।
नमक के प्रत्येक कण में खारापन है ।
नीम पत्ते के प्रत्येक कण में कडवाहट है ।
वैसे तृष्णा की प्रत्येक क्षण में दुःख ही दुःख है ।

इसलिए जीवन में समाधि भाव को पाने के लिए धन के प्रति रही तृष्णा का त्याग करना चाहिए ।

भौतिक सुख, दुःख रुप है

संसारदुःखान्न परोऽस्ति रोगः,
सम्यग्विचारात् परमौषधं न ।
तद्रोगदुःखस्य विनाशनाय,
सच्छास्त्रतोऽयं क्रियते विचारः ।।8।। (इन्द्रवज्रा)

शब्दार्थ

संसार दुःखात्=संसार के दुःख से,
न=नहीं है,
परः=बडा,
अस्ति=है,
रोग=व्याधि,
सम्यग्विचारात्=विवेकपूर्वक सद् विचार से,
परमौषधं=श्रेष्ठ औषध नहीं है,
तद् रोगदुःखस्य=संसार रोग के दुःख को,
विनाशनाय=विनाश करने के लिए,
सच्छास्त्रतः=सत्शास्त्र से,
अयं विचारः=यह निश्चय पूर्वक का विचार,
क्रियते=करने योग्य है ।

गाथार्थ

संसार के दुःख से बडा कोई दुःख नहीं है । विवेकपूर्वक सद्विचार से कोई श्रेष्ठ औषध नहीं है । उस संसार के दुःख का विनाश करने के लिए सत्शास्त्र से यह निश्चय पूर्वक विचार करने योग्य है ।

विवेचन

देह और धन की असारता बताने के बाद ग्रंथकारश्री इस श्लोक के द्वारा आत्मा के रोग और उससे मुक्त होने के लिए श्रेष्ठ औषध बता रहे है । **रोग का नाम लेते ही व्यक्ति भयभीत हो जाता है । छोटी-मोटी बीमारी होने पर डॉक्टर Blood Test, Urine Test आदि की सलाह देता है । डॉक्टर की सलाह से दर्दी जाकर रोग का मूल जानने का प्रयत्न करता है ।** Report आने के बाद डॉक्टर की सलाह लेकर अपनी जीवनशैली भी बदल देता है । यदि एक डॉक्टर से संतुष्टि न हो तो अलग-अलग डॉक्टरों की भी सलाह लेता है । कदाचित् डॉक्टर Report देखकर Cancer, Blood Pressure, Diabetes आदि कोई निदान कर दे तो रोग का नाम सुनते ही दर्दी के होश उड जाते है । असाध्य रोग का नाम सुनकर आधा तो वही मर जाता है । शेष जीवन भी अत्यंत दुःख से तडप-तडप कर पूरा करता है ।

रोग के नाम से भयभीत होना कोई आश्चर्यकारी बात नहीं है । रोग मृत्यु का कारण है और मृत्यु से सभी जीव डरते है । रोग मात्र शरीर को ही नहीं, आत्मा को भी लगे है । परंतु आत्मा के रोगों की चिंता करने वाले कितने है ?

दुनिया के सारे वैज्ञानिक शरीर के रोगों से मुक्ति पाने रोज-रोज नए संशोधन कर रहे है । करोडों और अरबों रुपयों का व्यय करके आरोग्य प्राप्ति का प्रयत्न किया जा रहा है । परंतु आरोग्य किसका ? मात्र शरीर का, आत्मा की तो बात ही नहीं है ।

वास्तव में शरीर के रोगों का मूल कारण आत्मा के रोग ही है । ग्रंथकारश्री ने इस श्लोक के माध्यम से आत्मा के रोगों का परिचय दिया है । **वे तो समग्र संसार के दुःख को ही रोग स्वरुप बता रहे है । सारा संसार दुःख स्वरुप है ।** इसमें अंश मात्र भी सुख नहीं है । हमारी अल्प बुद्धि के द्वारा हम जिस सुख की कल्पना कर रहे है, वह भी वास्तव में दुःख स्वरुप ही है ।

सागर के पानी को कही से भी चखो, वह खारा ही मिलेगा ।

अग्नि के कण का कहीं से भी स्पर्श करो, वह गर्मी ही देगा ।

विष्टा को कही से भी सुंघो, वह दुर्गंध ही देगी ।

वैसे ही संसार को कहीं से भी देखा जाय या अनुभव करे, वह दुःख स्वरुप ही मिलेगा । संसार में रहे समस्त जीवों की स्थिति देखी जाय तो, सभी जीवों को किसी न किसी प्रकार का दुःख अवश्य रहा हुआ है । देवता, चक्रवर्ती, इन्द्र, राजा, विद्याधर यावत् अनुत्तर देव विमान में रहे देवता भी दुःखी है । उनका सुख भी परिपूर्ण नहीं है । सुखी मात्र सिद्धात्मा ही है ।

शंका :– सिद्धात्मा के सुखों की प्रशंसा के लिए यह कहा जा रहा हो तब तो ठीक है, बाकी यह बात स्वीकार नहीं कर सकते है । नरक और तिर्यंच गति में दुःख है, यह मान सकते है । परंतु ``देवता और पांच अनुत्तर विमानवासी देवताओं को भी दुःख है'' यह कैसे मान सकते है ? क्योंकि छठी गाथा के विवेचन में पूज्य पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा. के मन्तव्य में बताया था कि ``देवताओं को अति सुख होने के कारण उनके जीवन में धर्म शक्य नहीं है ?''

समाधान :– आपकी शंका गलत नहीं है । परंतु आपने परमार्थ को बराबर समझा नहीं है । दुनिया की नजर में देवता अपार सुखी है क्योंकि दुनिया का निर्णय मात्र भौतिक सुखों के आधार पर है । जबकि शास्त्रकारों की नजर में देवता-यावत् अनुत्तर देवविमान वासी देवता भी दुःखी है, क्योंकि शास्त्रकारों का निर्णय आत्मिक सुखों के आधार पर है ।

परमोपकारी पूज्य पंन्यासजी भगवंत का वह मन्तव्य बालजीवों को लक्ष्य में रखकर दिया गया है । बाल जीव भौतिक पदार्थों से संपन्न व्यक्ति को सुखी मानते है परंतु वह सुख भी परिणाम में तो दुःख दायी ही होता है ।

भौतिक सुख अनेक रीति से कलंकित है ।

(1) संसार का सुख पुण्य को आभारी है :– संसार में जो भी सुख है, वह पुण्य से ही मिलता है । पुण्य का साथ है तभी तक सभी जगह सुख है । पुण्य के साथ छोड़ देने पर अपनों के बीच भी भयंकर दुःख ही है ।

(2) संसार का सुख अपूर्ण है :– संसार मे किसी को भी पूर्ण सुख नहीं होता है । कहीं न कहीं तो अवश्य कमी होती है । कोई धन से सुखी है तो तन से दुःखी है । कोई तन से सुखी है तो परिवार से दुःखी है । कोई परिवार से सुखी है तो धन से दुःखी है । संसार में कोई भी जीव, चाहे वह चक्रवर्ती हो या देवता, पूर्ण रुप से सुखी नहीं है ।

(3) सांसारिक सुख के पूर्व दुःख जरूरी है :– जब तक पूर्व में दुःख का अनुभव नहीं हो, तब तक सुख का कोई भी साधन हमें सुखी नहीं बना सकता है । जैसे-भोजन के सुख के पहले भूख का दुःख जरूरी है । A.C. और कूलर के सुख के पहले गर्मी का दुःख जरूरी है । यदि पूर्व में दुःख न हो तो वही साधन हमें दुःख का कारण बनता है । जैसे-सर्दी के दिनों में ठंडी हवा या ठंडा पानी जुकाम और बुखार का ही कारण बनता हैं ।

(4) संसार का सुख पापबंध का कारण है :– जीवात्मा को सुख के भोग में आनंद आता है, जो रागभाव का वर्धक है । राग और द्वेष ही नवीन पापकर्म बंध के मुख्य कारण हैं । राग के बिना सुख का भोग शक्य नहीं है ।

(5) संसार के भोगसुख में असंख्य जीवों की हिंसा है :– संसार का सुख हिंसा के बिना अशक्य है । ताजगी का अनुभव करने हेतु लोग चाय पीते हैं, परंतु एक कप चाय के पीछे जल, अग्नि, वायु आदि असंख्य जीवों की हिंसा है । एक सामान्य सुख में भी इतने जीवों की हिंसा है, तो मैथुन सेवन आदि के सुखों की हिंसा का तो क्या कहना ?

शास्त्रकारों ने एक बार के मैथुन सेवन में असंख्य द्वीन्द्रिय जीव और दो से नौ लाख तक संमूर्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्यों की हिंसा बताई है ।

(6) संसार का सुख, परिणाम में दुःखदायी है :– विषमिश्रित लड्डू खाने पर स्वाद तो मीठा लगता है, परंतु परिणाम में मृत्यु ही होती है । वैसे ही पाँच इन्द्रियों के विषयभोग भी प्रारंभ में मधुर लगते हैं, परंतु परिणाम में अत्यंत दुःखदायी है । क्षणिक भोगसुख इस जन्म में रोग-शोक का कारण बनते हैं और पुनर्जन्म में नरक और निगोद की भयंकर वेदना प्रदान करते हैं ।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने मात्र 700 वर्षों तक चक्रवर्तीपने का सुख भोगा और सजा के रुप में 33 सागरोपम तक सातवीं नरक के दुःख मिले । एक मिनट का सुख भी हजारों-लाखों वर्षों का दुःख देने वाला बना ।

(7) संसार के सुख में पराधीनता है :– संसार का सुख स्वाधीन नहीं है, सभी सुखों में किसी-न-किसी व्यक्ति या वस्तु की गुलामी करनी पड़ती है । जैसे-भोजन का सुख पाने के लिए खाद्य पदार्थ, चूल्हा, अग्नि, ईंधन, रसोइया, शरीर की स्वस्थता, भूख की पीड़ा, तृष्णा आदि अनेक की पराधीनता रही हुई है ।

(8) संसार का सुख विनाशी है :– संसार के सभी पदार्थ पुद्गलों से बने हैं और नष्ट होना पुद्गल का स्वभाव है । जगत् में जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश है । जिसका उदय है, उसका अस्त है । जिसका सर्जन है, उसका विसर्जन है । जिसका प्रारंभ है, उसका अंत है । अतः संसार के सभी सुख, विनाशी हैं । विनाशी ऐसे संसार के सुखों में राग करना महामुर्खता ही है !

(9) संसार का सुख, मात्र दुःखप्रतिकारक रूप है :– पहले जीवन में दुःख आता है, फिर बाह्य निमित्तों को पाकर हमें दुःख में राहत का अनुभव होता है, जिसे हम सुख मान बैठते हैं । जैसे पहले भूख का दुःख था, फिर भोजन किया तो वह दुःख कम हो गया और हमने

भोजन को सुख मान लिया । वास्तव में वह भोजन सुख रुप नहीं बल्कि दु:ख के प्रतिकार स्वरुप है ।

अनुत्तर विमानवासी देवता का सुख भी पुण्य के अधीन है । जिस दिन उनका आयुष्य पूरा हो जाता है, उसी क्षण उस आत्मा को दिव्य सुखों को छोड कर स्त्री के गर्भाशय की अशुचि में पैदा होना पडता है । उसी अशुचि का **ओजाहार करके शरीर और इन्द्रिय बनाने का कार्य करना पडता है । नौ-नौ महिने तक उसी कैद में उल्टे मस्तक रहना पडता है ।** भले ही वह उनका अंतिम जन्म हो, फिर भी गर्भावास, जन्म, रोग, शोक, वृद्धावस्था आदि दु:खों का अनुभव करना ही पडता है ।

जिनका सुख संसार में सर्वश्रेष्ठ है, ऐसे देवता का सुख भी जब पूर्ण नहीं है, तो अन्य तीन गतिओं के जीवों की तो क्या बात की जाय ? वे सभी तो अपार दु:खी है । इस दु:ख रुपी रोग का सिर्फ एक ही इलाज है–**''सद्विचार ।''** सद्विचार क्या है ?

- बरबादी के बादल में सूर्यकिरण है सद्विचार !
- **विपत्तिओं के वन में साथी है सद्विचार !**
- आपत्तियों के महासागर में सुरक्षित जहाज है सद्विचार !
- **आपत्ति के अंधकार में जलता दीपक है सद्विचार !**
- मुसीबत की मरुभूमि में साक्षात् कल्पवृक्ष है सद्विचार !
- **दु:ख के दारिद्र्य में सुखदायी चिंतामणि है सद्विचार !**
- गांव की गोशाला में कामनापूर्ति कामधेनु है सद्विचार !
- **एवं समस्त रोग नाशक श्रेष्ठ औषध है सद्विचार !**

ऐसे सद्विचार का उत्पत्ति स्थान सत्शास्त्र है । सत्शास्त्र परमात्मा के साक्षात् वचन स्वरुप है । इस पंचम काल में परमात्मा के अभाव में परमात्मा के वचन ही हमारी आत्म-सुरक्षा का आधार है ।

सर्वज्ञ बने तीर्थंकर परमात्मा समवसरण में बैठकर अर्थ के द्वारा

धर्मदेशना देते है । गुढ रहस्यों से भरी परमात्मा की देशना को गणधर भगवंत सूत्र के रुप में गूंथते है । गणधर रचित सूत्रों पर पूर्वधर महात्मा निर्युक्ति की रचना करते है । मूल सूत्र एवं निर्युक्ति के अर्थ को समझने के लिए ज्ञानी गुरुभगवंत चूर्णि, भाष्य और टीका की रचना करते है ।

मूल सूत्र, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका–ये आगम पंचांगी कहलाती है । ये आगम पंचागी परमात्मा के वचन स्वरुप होने से सभी सत्शास्त्र ही है । इतना ही नहीं बल्कि, अन्य धर्म में भी जो कोई भी वैराग्य, त्याग, तप एवं निःस्पृहता, क्षमा, नम्रता आदि की अच्छी बाते है, वे जैनागम के ही अंश स्वरुप है ।

ललित विस्तरा नाम के अनमोल ग्रंथ में याकिनी महत्तरासुनू सूरिपुरंदर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी कहते है–इस जगत् में जितनी भी अच्छी बाते है-वे सभी परमात्मा को आभारी है ।

मन में पैदा होने वाला एक भी अच्छा विचार परमात्मा को ही आभारी है । दुनिया में जितने भी सद्गुण है, सद्विचार है, उन सभी के धारक और स्वरुप दर्शक परमात्मा ही है ।

गुरुकृपा से अनित्यता का बोध

अनित्यताया यदि चेत् प्रतीति-
स्तत्त्वस्य निष्ठा च गुरुप्रसादात् ।
सुखी हि सर्वत्र जने वने च,
नो चेद्वने चाऽथ जनेषु दुःखी ।।9।। (उपजाति)

शब्दार्थ

अनित्यताया=पुद्गलों की नाशवंतता के कारण उनमें अनित्यता,
यदि चेत्=जो यदि,
प्रतीति=एहसास,
तत्त्वस्थ निष्ठा=परमात्मा द्वारा बताए तत्त्वज्ञान पर श्रद्धा,
च=और,
गुरुप्रसादात्=निर्ग्रन्थ गुरु की कृपा का ही फल है,
सुखी=दुःखों के अभाव का अनुभव करनेवाला,
हि=वास्तव में,
सर्वत्र=सभी जगह में,
जने वने च=चाहे लोगों के बीच में हो या जंगल में हो,
नो चेद्=यदि अनित्यता की प्रतीति व तत्त्व निष्ठा न हो तो,
वने च अथ जनेषु=चाहे जंगल में हो, या लोगों के बीच में हो,
दुःखी=वह दुःखी ही होता है ।

गाथार्थ

गुरु कृपा के द्वारा जिसे संसार के सभी पौद्गलिक पदार्थों की नाशवंतता को देखकर अनित्यता का एहसास, और परमात्मा द्वारा बताए तत्त्वज्ञान पर श्रद्धा पैदा हुई हो, वह व्यक्ति चाहे लोगों के बीच हो अथवा जंगल में अकेला हो, सभी स्थानों में सुखी है ।

अनित्यता का एहसास और तत्त्वज्ञान पर श्रद्धा पैदा नहीं हुई हो, तो वह व्यक्ति लोगों के बीच हो या जंगल में हो, सभी जगह दुःखी ही है ।

विवेचन

देह, वैभव आदि का वास्तविक स्वरुप बताकर ग्रंथकार हमें सुखी और दुःखी जीवों की भेदरेखा बता रहे है । सुख और दुःख का मुख्य कारण बाह्य संयोग नहीं है । बाह्य संयोग चाहे कैसे भी क्यों न हो, भीतर रही मनः स्थिति ही हमारे सुख और दुःख का कारण है ।

बाह्य स्थिति से व्यक्ति चाहे राज्य सुखों का अनुभव कर रहा हो, पास में सेवा करने वाले हजारों नौकर उपस्थित हो, राज्य सभा में दिव्य नृत्य चल रहा हो, परंतु मनःस्थिति स्थिर न हो, शरीर, परिवार अथवा राज्य चिंता मन को सता रही हो तो राजसिंहासन पर भी व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता है ।

बाह्य-स्थिति से व्यक्ति चाहे जंगल में हो, अकेला हो, स्वजन-परिवार ने साथ छोड दिया हो, शरीर में असह्य वेदना हो, परंतु मनःस्थिति स्थिर हो, सभी प्रकार की चिंता से मन मुक्त हो, परमात्म भक्ति में मन लीन हो तो कांटों की शय्या पर भी व्यक्ति दुःखी नहीं हो सकता है । सुख-दुःख का एक मात्र कारण मनःस्थिति है ।

ममत्व से दुःख

◆ एक दिन एक सेठ अपनी दुकान पर बैठे हुए । रास्ते का नजारा देख रहे थे । उसी समय भागते-भागते आकर एक व्यक्ति ने सेठजी को समाचार दिये, **'सेठजी ! आपके गोदाम में भयंकर आग लगी है । सारा सामान जलकर खाक हो रहा है ।'**

समाचार सुनते ही सेठजी को ठंडी में भी पसीना आ गया । कैसे लगी ? कहां लगी ? पूछकर सेठजी दुकान को नौकर के भरोसे छोडकर, छडी लेकर जल्दी-जल्दी चलने लगे । आधे रास्ते पहुंचने पर एक व्यक्ति मिला । उसने सेठजी को चिंतित देखकर पूछा, **'क्या हुआ सेठजी, इतनी तेजी से कहाँ भाग रहे हो ?'**

सेठ ने जल्दबाजी में कहा, **'अभी मत पूछ ! गोदाम में आग लगी है, मुझे जाने दो ।'**

गोदाम में लगी आग की बात सुनकर व्यक्ति ने सेठजी को निश्चिन्त करते हुए कहा–सेठजी चिंता क्यों करते हो ? मैंने तो सुना है कि आपके पुत्र ने कल ही वह गोदाम बेच दिया है । जैसे ही सेठ ने गोदाम बेचने की बात सुनी, वे शांत और आश्वस्त हो गए । **एक क्षण पहले मन में चिंता-बेचैनी और दुःख था । क्षण के बाद जब वह गौदाम अपना नहीं है, नुकसान अपना नहीं हुआ ऐसा ख्याल आते ही, सारी चिंता दूर हो गई । आश्वस्त होकर पुनः दुकान पर चले गए । दिन भर दुकान में निश्चिन्त रहे । जैसे कुछ हुआ ही नहीं !** शाम को सेठजी घर गए और अपने पुत्र से मिले । पुत्र कुछ चिन्तित था । उसके चेहरे पर उसका दुःख स्पष्ट दिख रहा था । आखिर सेठ ने उसे पूछा। `क्या हुआ बेटा, तेरा मुख उदास क्यों है ?

`क्या बताऊं पिताजी ! आज पचास लाख के माल से भरा गोदाम जलकर खाक हो गया । बहुत बडा नुकसान हो गया ।' बेटे ने कहा ।

बेटे की बात सुनकर पिताजी ने पूछा, **`अरे ! मैने तो सुना है कि तुने वह गोदाम कल बेच दिया था । क्या सौदा नहीं हुआ था ?'**

सौदा तो हो गया था, परंतु कागजों पर हस्ताक्षर बाकी थे । इस कारण से जो नुकसान हुआ है, **`वह हमारा ही माना जाएगा ।'**

नुकसान का आंकडा सुन सेठजी के तो होश ही उड गए । सेठजी अत्यंत दुःखी हो गए ।

देखा जाय तो गोदाम जला ही था परंतु जब उसे अपना माना, तो सेठजी दुःखी हुए, और जब अपना नहीं माना तो सेठजी निश्चिन्त थे । वास्तव में सुख-:दुःख का कारण वस्तु और व्यक्ति को अपना नहीं मानना और मानना है । इस ममत्व को तोडने के लिए ही ग्रंथकारश्री अनित्य भावना का उपाय बता रहे है ।

घर, बंगला, गाडी, दुकान, मकान, खेत, वाडी, फार्म हाउस, सोना-चांदी, रत्न, मोती, गहने, कपडे आदि सभी जड संपत्ति और माता, पिता, पुत्र, पत्नी, सास-श्वसुर आदि सभी सगे सम्बन्धी से जुडा रिश्ता-नाता अनित्य है, क्षण भंगुर है और अल्पकालीन है ।

जन्म होने पर गर्भ में सबसे पहले आत्मा शरीर का निर्माण करती है, तब से शरीर का, फिर माता-पिता-भाई, बहन, दोस्त, रिश्तेदार आदि से सम्बन्ध जुडते है । जैसे जैसे उम्र बढती है, वैसे-वैसे व्यक्ति के सम्बन्धों का वर्तूल बडा बनता है । कभी कभी पुराने सम्बन्ध छुटते जाते है और नए सम्बन्ध बढते जाते है ।

पहले झूला, फिर खिलौना, फिर दोस्त, फिर पत्नी, पुत्र, घर, गाडी, दुकान-मकान ! न जाने कितनों से सम्बन्ध जुडता है । जुडते है तब तो ये सम्बन्ध खूब मीठे लगते है, परंतु एक दिन असलियत बाहर आ ही जाती है, फिर वही रिश्ते कडवे लगते है ।

घर-गाडी, दुकान-मकान, जमीन-जायदाद, धन-दौलत इन सभी को हम अपना मानते है । इनके चले जाने पर हम शोक करते है, परंतु क्या कभी ऐसा होता है कि हमारे चले जाने पर इनको शोक हुआ हो ? असंभव, क्योंकि से सभी जड पदार्थ-चेतना और संवेदना से रहित है । इनमें ममत्व करना एकपक्षीय है और एकपक्षीय सम्बन्ध कभी कायम नहीं रहता ।

जड पदार्थों से अतिरिक्त जो जीव पदार्थ है जैसे पत्नी, पुत्र, रिश्तेदार आदि वे सभी मात्र स्वार्थ के साथी है । स्वार्थ होने पर गधे को बाप बनाने वाले, स्वार्थ पूरा होने पर बाप को भी गधा बनाते देर नहीं करते है । फिर भी इनके प्रति रहा अपना ममत्व कम नहीं होता है । लोंहे की जंजीरों से भी नहीं बंधने वाला यह मन, प्रेम के कच्चे धागे से जीवन भर बंधा रहता है ।

व्यक्ति इन स्नेह के बंधनों में सुख पाना चाहता है । परंतु इन अनित्य संबंधों में सुख का अंश भी कहाँ से ? कण जितना सुख पाने के लिए टन जितना दुःख सहना पडता है । मजा पाने की आशा में जीवन भर मजदूरी करनी पडती है । फिर भी इस संसार की विचित्रता ऐसी है कि ये सारी बाते जानने पर भी जीवात्मा को इन बातों पर विश्वास पैदा नहीं होता है । कदाचित् विश्वास हो जाय, तो भी वह विश्वास थोडा-सा कुनिमित्त मिलते ही डगमगा जाता है । तत्त्व निष्ठा नहीं होती है ।

अनित्यता की प्रतीति और तत्त्व पर निष्ठा होना आसान नहीं है । इन दोनों को जीवन में लाने के लिए गुरुकृपा आवश्यक है । गुरुकृपा पाने के लिए जीवन में गुरु के प्रति विनय और बहुमान भाव जरुरी है । जिसके हृदय में गुरु के प्रति विनय और बहुमान भाव रहा है, उसके लिए इस लोक और परलोक की सभी सिद्धियाँ, यावत् मोक्ष भी दूर नहीं है ।

जीवन में अन्य गुणों की प्राप्ति करने से आत्मा का मोक्ष हो भी सकता है, और न भी हो सकता है, परंतु परमात्मा की आज्ञा के अनुसार स्वयं संयम जीवन का पालन करते हो और अपने आश्रितों को संयम जीवन का पालन कराते हो ऐसे सद्गुरु के प्रति रहे विनय और बहुमान भाव से अवश्य मोक्ष होता है ।

विनय अर्थात् काया से नम्रता, वंदन, नमस्कार, हाथ जोडना, उनके आगमन पर खडा हो जाना, उनके जाने पर पीछे जाना, उनके आने तक उनकी प्रतीक्षा करना, उन्हें आसन प्रदान करना, उनकी सेवा-वैयावच्च करना आदि । बहुमान भाव अर्थात् हृदय में अत्यंत ही आदर भाव रखना । विनय और बहुमान की चतुर्भंगी होती है–

(1) विनय भी हो और बहुमान भी हो-जैसे गौतमस्वामी ।

(2) विनय हो परंतु बहुमान न हो–जैसे विनयरत्न मुनि ।

(3) विनय न हो परंतु बहुमान हो-जैसे अनशन स्वीकार किये महामुनि ।

(4) विनय भी न हो और बहुमान भी न हो-जैसे कुलवालक मुनि ।

विनय और बहुमान में प्रधानता बहुमान भाव की है । किसी कारणवश बाह्य विनय न करे तो चल सकता है परंतु हृदय में बहुमान भाव तो अवश्य होना चाहिए । हृदय में गुरु के प्रति बहुमान भाव न हो तो बाह्य विनय मात्र दंभ ही कहलाता है ।

गुरुकृपा अर्थात् शिष्य के हृदय में विद्यमान गुरु के प्रति बहुमान भाव । वह बहुमान भाव जिस शिष्य के हृदय में होता है, उसका मोक्ष निश्चित है ।

कहने, सुनने और सोचने के लिए गुरु बहुमान भाव की बातें बहुत आसान लगती है, परंतु उसे अपने जीवन में उतारना अत्यंत ही कठिन है । गुरु हमारे लिए अनुकूल हो, हमारी हर इच्छा पूरी करते हो, प्रेम और वात्सल्य देते हो, हमारी हाँ में हाँ भरते हो, ऐसे गुरु के प्रति बहुमान भाव होना आसान है, परंतु जो गुरु हमारे शरीर की नहीं बल्कि आत्मा के सच्चे हितैषी हो, जो हमारे शरीर की अनुकूलता की नहीं बल्कि आत्मा के हित को लक्ष्य में रखकर आज्ञा करते हो, कडक अनुशासन करते हो, ऐसे गुरु के प्रति बहुमान भाव होना ही शिष्यत्व की परीक्षा है ।

भूल हो जाने के बाद शिष्य को ठपका देने में यदि गुरु संकोच का अनुभव करते हों तो वास्तव में वह शिष्य, शिष्य ही नहीं है । जो शिष्य गुरु से डरता न हो, बल्कि गुरु को डराता हो, वह शिष्य, शिष्य कहलाने लायक ही नहीं है । शिष्य वही है जो गुरु की आज्ञा को संपूर्ण बहुमानभाव पूर्वक हाथ जोड़कर स्वीकार करता है ।

''आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया'' गुरु की आज्ञा को लेश भी विलंब किए बिना स्वीकार करनी चाहिए और उस आज्ञा के अनुरुप प्रवृत्ति करनी चाहिए । जो शिष्य गुरु की आज्ञा को बहुमान पूर्वक स्वीकार कर उस आज्ञा का समुचित पालन करता है, उसे महान लाभ होता है ।

आगम शास्त्रों और पूराण ग्रंथों में गुरु शिष्य के अनमोल रिश्तों को बताने वाले अनेक दृष्टांत प्राप्त होते है । सभी दृष्टांतों में शिष्य का व्यवहार कैसा भी क्यों न हो, गुरु की तारकता और उपकार दृष्टि एक समान देखने को मिलती है । शिष्य को अपनी योग्यता और पात्रता के अनुसार अवश्य लाभ होता है ।

आचार्य श्री चण्डरुद्राचार्य के प्रति शिष्य के अद्‌भूत समर्पण भाव ने शिष्य को केवलज्ञान की भेट दे दी । तो साथ ही तेजोलेश्या छोडकर गोशाले ने प्रभु महावीर की घोरातिघोर आशातना करनेवाले गोशाले पर भी परमात्मा ने ऐसी कृपा बरसाई कि उसकी आत्मा को भी सम्यग्‌दर्शन की प्राप्ति एवं परलोक में 12वें देवलोक की प्राप्ति हुई ।

गुरु की आज्ञा विचार किये बिना स्वीकार करने से क्या लाभ हो सकता है यह बताने वाला एक शास्त्रीय दृष्टांत ।

गुरु समर्पण से आफत टली

किसी नगर में एक गुरु भगवंत अपने शिष्यों के साथ विराजमान थे । गुरु विशिष्ट ज्ञानी थे । उन्होंने गोचरी जाते समय एक शिष्य को चाकू की याचना करने की आज्ञा दी ।

समर्पित शिष्य ने बिना विचारे गुर्वाज्ञा का पालन किया । प्राप्त चाकू अपने गुरु को अर्पण कर दी । गुरु ने वह चाकू अपने पास रख दिया । रात को जब सभी साधु निद्राधीन थे, तब गुरु ने अपने पास रही चाकू निकाली ।

दिन में जिसे चाकू लाने की आज्ञा की थी, उसी के पास जाकर उसका हाथ उठाया । उसकी नस काट कर थोडा खून एक कटोरे में भरा । अपने पास रही विशिष्ट औषधि लगाकर घाव भर दिया । जैसे घाव हुआ ही न हो वैसा स्वस्थ कर दिया ।

दूसरे दिन गुरु ने उस शिष्य को बुलाकर पूछा-बता, जब मैंने तुमसे चाकू मंगाई तब तुम्हारे मन में क्या भाव था ? शिष्य ने नम्रतापूर्वक कहा, **'आप जो करते है, वह सही करते है यही भाव था ।'**

गुरु ने फिर पूछा, **'रात को मैंने तेरे हाथ की नस कांटकर खून निकाला तब तुम्हारे मन में क्या भाव था ?'**

शिष्य ने उसी नम्रता से कहा, **'आप जो करते है वह सही करते हो ।'**

शिष्य के अद्‌भूत समर्पण को देख गुरु भगवंत ने रहस्य प्रकट करते हुए कहा, **'किसी जन्म का तुम्हारा एक वैरी इस भव में सांप बना है, वह तुम्हारे खून का प्यासा था ।'** आज रात को वह तुम्हारे वैर का बदला लेने आया था । तब मैंने तुम्हारे हाथ की नस काँटकर खून का कटोरा भरकर दे दिया । वह खून पीकर चला गया ।

गुरु भगवंत की दीर्घ दृष्टि एवं विशिष्ट ज्ञान के फल स्वरुप शिष्य की जान बच गई और शिष्य के अद्‌भूत समर्पण भाव ने शिष्य को गुरु कृपा का भागी बनाया ।

जीवन में ऐसी गुरु कृपा की प्राप्ति हो तो ही संसार की अनित्यता और तत्त्व पर निष्ठा प्राप्त होगी, तो आत्मा को निर्भय बनाएगी । निर्भयता प्राप्त होने के बाद व्यक्ति चाहे कही भी हो, वह सर्वत्र सुखी हो सकता है ।

श्रेणिक महाराजा, कृष्ण महाराजा आदि सम्यग्‌दृष्टि आत्माएँ वर्तमान में नरक में रहते हुए भी कर्मों की अपूर्व निर्जरा कर रहे है । जबकि अनेकानेक मिथ्यादृष्टि, जिन्हें गुरु कृपा की प्राप्ति न होने से संसार की अनित्यता और तत्त्व पर निष्ठा नहीं जगी है ऐसे असंख्य देवता भी ईर्ष्या, भय आदि के दोषों के कारण परम दुःखी है ।

अब निर्णय हमें करना है । सुखी होना है या दुःखी ? परिस्थिति बदलना हमारे हाथों में नहीं है, परंतु अपनी मनःस्थिति बदलना अपने हाथों में है । अपनी मनःस्थिति बदलने के लिए ग्रंथकार ने इस गाथा में सचोट मार्गदर्शन दिया है ।

विवेक ज्ञान की आवश्यकता

मोहाऽन्धकारे भ्रमतीह तावत्,
संसार दुःखैश्च कदर्थ्यमानः ।
यावद्विवेकाऽर्कमहोदयेन,
यथास्थितं पश्यति नात्मरूपम् ।।10।। (अजाति)

शब्दार्थ

मोहाऽन्धकारे=मोह के अंधकार में,
भ्रमति=वह भ्रमण करता है,
इह=यहाँ,
संसार दुःखैश्च=जन्म-जरा-मरण के दुःखों के द्वारा,
कदर्थ्यमानः=पीडित होता है,
तावत्=तब तक,
यावत्=जब तक,
विवेक=भेदज्ञानरुपी,
अर्क=सूर्य के,
महोदयेन=महा उदय के द्वारा,
यथास्थितं=वास्तविकता,
पश्यति=वह देखता है,
न=नहीं,
आत्मरूपम्=अपनी आत्मा के सच्चे स्वरुप को ।

गाथार्थ

इस लोक में भ्रम पैदा करने वाले मोहनीय कर्म के अन्धकार में आत्मा तब तक ही जन्म-जरा-मरण रुप संसार के दुःखों से पीडित होती है, जब तक भेदज्ञान पैदा करने वाले विवेक रुपी सूर्य के महोदय से जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरुप को नहीं देखती है ।

विवेचन

जिस प्रकार एक कुशल वैद्य दर्दी के दर्द को दूर करने योग्य दवाई देता है, तो साथ ही अपथ्य के त्याग हेतु विशेष सूचना देता है । सर्दी-बुखार के दर्दी को सुदर्शन घनवटी जैसी कडवी दवाई देकर दही और ठंडी वस्तु के त्याग का निर्देश भी करता है । उसी प्रकार ग्रंथकारश्री ने पिछले दो श्लोकों में सत्-शास्त्र का अभ्यास, गुरुकृपा के बल से संसार की अनित्यता की प्रतीति और तत्त्व निष्ठा की दवाई बताई है, पुनः इस श्लोक में परहेज पालन करने के लिए निर्देश कर रहे है । वे कह रहे है कि संसार में जीवात्मा को दुःखों का अनुभव करना पड रहा है, वह मोह के गहरे अंधकार का ही दुष्परिणाम है ।

रात्रि में सूर्य के अभाव से सर्वत्र अंधकार फैल जाता है । आँख होने पर भी प्रकाश के अभाव में पास में रही वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता है । कही मतिभ्रम हो जाता है, तो कही मुर्खता भरे किस्से भी सुने जाते है ।

मुर्खता

एक बुढिया माजी शाम के समय झोपडी में बैठकर कपडों की सिलाई कर रही थी । कुछ देर बाद रात हुई । झोपडी में अंधेरा बढने लगा । उसने देखा, **'मार्ग की बत्ती जल चूकी हैं ।'** बत्ती के उजाले में कपडा सीने के लिए अपना सारा समान लेकर बाहर आयी । इसी बीच में उसकी सुई कहीं गिर गई थी । एक ओर आँखों की कम रोशनी दूसरी ओर उजाला भी कम । सुई ढंढने के लिए उसने बरामदे का कोना-कोना छान लिया । परंतु सुई नहीं मिली ।

करीब एक घंटे की मेहनत के बाद भी नतिजा नहीं आया । थोडी देर में बेटा घर आया । उसने माजी को पूछा, **'क्या ढूंढ रहे हो ?'**

माजी ने कहा, **'घंटों से सुई ढूंढ रही हुं परंतु मिल नहीं रही है ।'**

बेटे ने पूछा, **'आप पहले सिलाई कहाँ कर रही थी ?'**

माजी ने कहा, **'झोपडी में ।'**

बेटा अंदर गया दीप जलाकर देखा तो आधी मिनट में सुई ढूंढकर ले आया । और बोला **'जब सुई अंदर गिरी थी तो बाहर क्यों ढूंढ रही थी ।'**

माजी ने कहा, **'बेटा ! अंदर अंधेरा था, उजाला तो बाहर था, इसलिए बाहर ढूंढ रही थी ।'**

कैसी मुर्खता !

यह छोटासा प्रसंग हमें बहुत कुछ कह जाता है । रात का अंधकार भी व्यक्ति को इतना हैरान-परेशान कर देता है, तो मोह के अंधकार की क्या बात करे ?

अनादि काल से मोह के अंधकार के कारण आत्मा गाढ निद्रा में सोई हुई है । यह सारा काल आत्मा के लिए रात्रि के समान है । इतने काल तक जो कुछ भी सुख-दुःख का अनुभव हुआ है, वह सभी स्वप्न समान है ।

स्वप्न में व्यक्ति कभी अपने आपको राजा-महाराजा और चक्रवर्ती बने देखता है, तो कभी दीन-दुःखी और दर-दर पर भटकते भिखारी के रुप में देखता है । कभी रोता है । कभी हँसता है । कभी मौज-मजा और मस्ती करता है तो कभी शोक के गहरे सागर में डुब जाता है ।

परंतु रात्रि के इन स्वप्नों की कोई कीमत नहीं होती, वैसे ही मोह की गहरी नींद में प्राप्त हुई सारी समृद्धि, सारे ऐश्वर्य और सारे सुखों की वास्तव में कोई कीमत नहीं है । सुख भी दुःख रुप है । ऐश्वर्य भी विडंबना रुप है और समृद्धि भी बंधन रुप है । मोह के अंधकार में जीव अपनी वास्तविक स्थिति को भूला है । इससे वह जिस गति में जाता है, वहाँ मात्र दुःख, दुःख और दुःख ही अनुभव करता है ।

जीव अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है, फिर भी उसे भव भ्रमण की थकावट का एहसास ही नहीं हुआ । चौदह राजलोक के हर कोने में, हर आकाशप्रदेश पर अनंती बार सुख-दुःख का अनुभव किया है, फिर भी जहाँ जाता है वहाँ ऐसा ही कहता है कि ''यहाँ तो मैं पहली बार आया हूँ।'' यह तो मैं पहली बार देख रहा हूँ ।''

सर्वत्र आश्चर्य चकित होकर घूमता रहता है, भटकता रहता है और विडंबना का भागी बनता है । यह सब कब तक चलता रहेगा ? कब तक आत्मा मोह के अंधकार में भटकती रहेगी ? सूर्योदय तो रोज होता है परंतु मोह के अंधकार को दूर करने की ताकत इस सूर्य में भी नहीं है । इस अंधकार को दूर करने के लिए विवेक रुपी सूर्य के महोदय की आवश्यकता है ।

विवेक अर्थात् भेदज्ञान । सत्य-असत्य की सही पहचान । आत्मा और देह सर्वथा भिन्न है । आत्मा के गुणधर्म अलग हैं और देह के गुणधर्म अलग हैं । परंतु विवेक के अभाव में व्यक्ति देह में ही आत्म बुद्धि करके उसी के पालन-पोषण और संवर्धन में अपने जीवन का अमुल्य समय खो देता है ।

जब जीव में विवेक रुपी अंतरंग चक्षु खुलते है, तब उसके साथ ही कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान होने के साथ ही व्यक्ति अकर्तव्य का त्याग कर कर्तव्य के पालन के लिए प्रयत्नशील बने बिना नहीं रहता है ।

मोह के अंधकार को दूर करनेवाला, वैराग्य रस के अमृत से भरपूर श्री सिद्धर्षि गणि द्वारा रचित **उपमिति भव प्रपंचा** में बठरगुरु का दृष्टांत

बठर गुरु

भव नाम का एक बडा गांव है । उस गांव में नाम का शिवमंदिर है । यह शिवमंदिर महामूल्यवान अनेक रत्नों से भरपूर है । विविध प्रकार के मनोहर भोजन की सामग्री और पीने योग्य स्वादिष्ट शीतल, मधुर पानी और सोना, चांदी, वस्त्र, अलंकार, धन, धान्य आदि सभी वस्तुओं से भरा हुआ है । यह विशाल, भव्य और उँचा शिवमंदिर सभी सुखों का एक स्थान है ।

इस शिवमंदिर में **सारगुरु** नाम का एक आचार्य अपने परिवार के साथ रहता है, परंतु आश्चर्य की बात है कि **वह मुर्ख है ।** वह अपने एकांत

हितकारी और प्रेम करने वाले परिवार का भी पालन-पोषण नहीं करता है । यहाँ तक कि वह अपने परिवार को भी अच्छी तरह से जानता-पहचानता नहीं है । शिवमंदिर में रही अपनी भरपूर समृद्धि से भी अनजान है ।

उस गांव में एक चोरों का टोला है । **सारगुरु** की इस वास्तविकता के बारे में चोरों ने जाना । **सारगुरु** की मुर्खता का फायदा उठाने के लिए चोरों ने आकर उससे दोस्ती की । **मुर्खता के कारण वह उन चोरों को अच्छा और हितकारी मानता है । वह अपने परिवार की उपेक्षा करके दिन-रात चोरों के साथ मौज-मजा करता है ।**

अपने आचार्य की इस हालत को देखकर सभी शिवभक्तों ने उन्हें समझाने की खूब कोशिश की, परंतु उसने शिवभक्तों की कोई बात नही मानी । अंत में सभी शिवभक्तों ने शिवमंदिर छोडकर चले जाने का निर्णय लिया और सारगुरु का नाम बदल कर **बठरगुरु** रखा । बठरगुरु यानी मुर्खगुरु ।

शिवमंदिर में आने वाले शिवभक्तों का आना जाना बंद होने से उन चोरों का जोर और बढ गया । उन्होंने बठरगुरु को पागलपन बढाने वाली औषधियाँ देकर उसका पागलपन और बढा दिया । चोरों ने उस शिवमंदिर पर कब्जा कर दिया ।

बठरगुरु के परिवार को मंदिर के बीच के कमरे में बंद करके दरवाजे पर ताला लगा दिया । उसके बाद **''यह सारी संपत्ति अपनी है''** मानकर प्रसन्न होते हुए चोरों ने अपने में से एक को नायक बनाया । फिर उस नायक के सामने ताली बजाते हुए चोरों ने बठरगुरु के पास नाटक करना शुरु किया ।

कमभागी बठरगुरु अपनी होने वाली विडंबना को समझ न सका । अपने परिवार की स्थिति जान न सका । धन-संपत्ति से भरपूर अपना शिवमंदिर चोरों ने चुरा लिया है–यह भी जान न सका । वह तो उन चोरों को अपना मित्र मान रहा है, इसी गुमान में मस्ती से चोरों के बीच में नाच रहा है ।

उस भव नाम के गांव में चार मोहल्ले है । बठरगुरु को भूख लगने पर जब चोरों के पास भोजन की भीख मांगता है । तब चोरों ने उसे एक बडे मटके का फूटा ठीकरा हाथ में पकडाकर, शरीर पर काली स्याही लगाकर पहले अति जघन्य मोहल्ले में भीख मांगने के लिए भेज दिया ।

1) अति जघन्य मोहल्ला :– बठरगुरु उन चोरों के साथ अति जघन्य मोहल्ले में भीख मांगने के लिए गया । उन चोरों ने भी उसका पिछा किया ।

उन्होंने वहाँ रहे लोगों को उसकी पिटाई करने का ईशारा किया । यमराज जैसे उन लोगों ने बिचारे बठरगुरु की लकडी, पत्थर और मुष्ठी से मारकर जोरदार पिटाई की । दीर्घकाल तक उसने भयंकर दुःखों को सहन किया ।

फिर भी उसे थोडी भी भीख नहीं मिली । आखिर में उसका ठीकरा (पात्र) टूट गया । वह उस मोहल्ले से बाहर निकला । अब उन चोरों ने उसे दूसरे मोहल्ले में भीख मांगने के लिए एक बडा कोडिया दिया और जघन्य मोहल्ले में ले गए ।

2) जघन्य मोहल्ला :– इस मोहल्ले में भी वह लम्बे समय तक रहा । फिर भी उसे थोडी भी भीख नहीं मिली । वहाँ के हल्के लोगों ने उसे खूब हैरान किया । अंत में उसका भीख मांगने का मिट्टी की कटोरा टूट गया । चोरों ने उसे तांबे का कटोरा देकर तीसरे उत्कृष्ट मोहल्ले में भेजा ।

3) उत्कृष्ट मोहल्ला :– वहाँ उसे थोडी-सी भीख मिली । उस भीख के प्रभाव से **``वह रत्न के मंदिर का नायक है''** ऐसा एहसास हुआ । वहाँ भी तुच्छ लोगों ने उसे खूब तकलीफ दी । अंत में एक दिन उसके तांबे का पात्र भी टूट गया । तब उन ठग चोरों ने उसे एक सुंदर चांदी का पात्र देकर अति उत्कृष्ट मोहल्ले में भेजा ।

4) अति उत्कृष्ट मोहल्ला :– वहाँ उसे रत्न के मालिक रुप में प्रसिद्ध होने से सभी घरों में से अच्छी भीख मिली । इस प्रकार उन चोरों ने उस बठरगुरु को बार-बार चारों मोहल्लें में घुमाया । रात दिन खूब

हैरान किया । फिर भी वह चोरों को मित्र से बढकर उपकारी मानता है और अपने आप को सुख में मग्न मानता है ।

एक दिन बठरगुरु को इस प्रकार त्रस्त देखकर एक शिवभक्त को उसपर दया आयी । **``किस उपाय से इसे दुःख मुक्त करुं !''** इस विचार से उस शिवभक्त ने महावैद्य को पूछा । महावैद्य से उस उपाय को जाना । उसे अच्छी तरह से याद रखा । फिर वैद्य के द्वारा बताई सभी सामग्री लेकर रात्रि के समय में शिवमंदिर में गया ।

बठरगुरु चारों मोहल्लों में घुमकर खुब थक चुका था । सभी चोर सो रहे थे । शिवभक्त ने शिवमंदिर में जाकर दीप जलाया । **दीपक की रोशनी में बठरगुरु ने शिवभक्त को देखा ।** थके हुए बठरगुरु ने शिवभक्त के पास पानी मांगा । शिवभक्त ने कहा-अरे भट्टारक ! ये तत्त्वरोचक नाम का तीर्थजल पीओ । बठरगुरु ने तीर्थजल पिया । पानी पीते ही क्षण में उसका उन्माद शांत हो गया । उसकी चेतना निर्मल हो गई । उसने शिवमंदिर को देखा । बठरगुरु ने उसे पूछा **``यह सब क्या है ?''** उसने उसे सभी हकीकत बताई ।

शिवमंदिर की सच्चाई सुनकर बठरगुरु ने शिवभक्त को पूछा–**``अब मैं क्या करुं ?''** शिवभक्त ने उसे एक वज्र का दंड दिया और कहा **``हे भट्टारक ! ये तेरे दुश्मन है । इन चोरों को सबक सीखा दे । इस कार्य में थोडी भी देर करने जैसी नहीं है ।''** तब बठरगुरु ने उठकर वज्रदंड से चोरो को चूर कर दिया । फिर अपने मंदिर में कैद किये अपने परिवार को कमरे से मुक्त किया । अपने रत्न के समुह को प्रकट किया । अपने शिवमंदिर की संपत्ति देखी । वह खूब खुश हो गया । अंत में चोर-लुटेरों से भरे भवग्राम को छोड कर उपद्रव रहित शिवालय नाम के मठ में चला गया ।

कथा का उपनय :– कथा में जो **भव** नाम का गांव है, वह समग्र **संसार** है । **शिवमंदिर** आत्मा का सच्चा स्वरुप है । इसमें ज्ञानादि महामूल्यवान गुण रत्न भरे है । **सारगुरु** नाम का आचार्य आत्मा स्वयं ही

है । मोह की मुर्खता के कारण इसने अपने हितैषी आत्मिक गुणों के परिवार को चित्त रुपी कमरे में बंद कर दिया है । इस कारण वह अपनी अनंत समृद्धि को भूल गया है । रागादि चोरों ने इस बात को जानकर आत्मा के कर्म रुपी उन्माद को सतत बढाया है । उन चोरों ने महामोह को नायक पद पर स्थापित कर आत्मा को अनेक नाटक कराए । फिर भी आत्मा शत्रु रुप इन रागादि चोरों को अपना सच्चा मित्र मानता है । आत्मा की ऐसी स्थिति को देखकर शिवभक्त रुपी श्रावकों ने खुब समझाया परंतु रागादि के उन्माद के कारण वह कुछ भी समझने को तैयार नहीं है । अंत में सारगुरु का नाम बठरगुरु (मुर्ख) रखकर उसे छोड दिया ।

अब रागादि चोर और निश्चिंत होकर आत्मा की कदर्थना करने लगे । जब उसे भोग की इच्छा होती है, तब पाप रुपी काली स्याही लगाकर चारों गति में भोग की भीख मांगने भेजते है । भीख मांगने के लिए उसे आयुष्य रुपी पात्र देते है ।

पहला अति जघन्य मोहल्ला यानी नरक गति । वहाँ जीव को कुछ भी भोग नहीं मिलता, बल्कि परमाधामी की मार मिलती है ।

दूसरा जघन्य मोहल्ला यानी तिर्यंच गति । वहाँ जीव लम्बे समय तक रहता है, परंतु भोग की प्राप्ति नहीं होती ।

तीसरा उत्कृष्ट मोहल्ला यानी मनुष्य गति । वहाँ उसे अपने स्वरुप का आंशिक बोध जरुर होता है, परंतु आधि-व्याधि और उपाधि के बीच भोग की थोडी सी भीख मिलती है ।

चौथा अति उत्कृष्ट मोहल्ला यानी देव गति । वहाँ उसे कुछ विशिष्ट ज्ञान और दीर्घ आयुष्य होने से विशेष भोग सामग्री प्राप्त हुई ।

इस प्रकार चारों गतियों में रागादि चोर जीवात्मा को खूब पीडा देते है, परंतु अपने स्वरुप से अज्ञात वह उन सारी पीडाओं को भी सुख रुप मानती है । अपने आप को धन्य मानती है । उसे मिली थोडी-सी भोग की भीख से अभिमान करती है । अहो मेरा सुख ! अहो मेरा स्वर्ग ! परंतु ये सभी मात्र मोह की विडंबना है ।

जीवात्मा की इस स्थिति को देखकर सत्य धर्म के उपदेशक **सद्गुरु शिवभक्त** को उस पर दया आती है । **''इस जीव को रागादि चोरों से कैसे मुक्त कराऊं''** ऐसा विचार कर जिनेश्वर भगवान रुप महावैद्य से उसका उपाय जानते है ।

फिर जब जीवात्मा के रागादि शत्रु कुछ शांत हुए, तब सद्गुरु उसके भीतर सम्यग्ज्ञान रुपी दीपक प्रकट करते है । उसे अपनी आत्मस्थिति का कुछ बोध होता है । फिर उसे महाप्रभावशाली सम्यग्दर्शन रुपी निर्मलजलपान कराकर कर्मों के उन्माद का नाश करते है । अंत में जब उसे रागादि चोरों से होने वाली अपनी दुर्दशा का ज्ञान होता है, तब उन्हे नष्ट करने का उपाय पूछता है ।

जीवात्मा की तीव्र अभिलाषा जानकर सद्गुरु उसे सम्यक्चारित्र रुपी तेजस्वी वज्रदंड देते है । उसे लेकर सद्गुरु के वचनों से वह महामोह आदि चोरों को चूर-चूर कर सबक सिखाती है ।

जब आत्मा रागादि चोरों पर वज्रदंड का प्रहार करती है, तब प्राणी का आशय विशाल होता है । पूर्व में बंधे कर्म क्षय होते है । नए कर्मों का बंध नहीं होता । वीर्य उल्लसित होता है । अप्रमत्त अवस्था प्रकट होती है और आत्मा निर्मल बनती है । उसका समाधि रत्न स्थिर होता है ।

संसार की परंपरा का अंत आता है । क्षपकश्रेणी पर चढकर आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करती है । चित्त रुपी कमरे में बंद पडा अपना परिवार बाहर आता है । आत्मा अनंत गुणों की संपत्ति प्राप्त करती है । अंत में देह रुपी पिंजरे को छोडकर सदा के लिए मोक्ष रुपी शिवालय में पहुँच जाती है ।

बस, इसी तरह अपनी आत्मा के भीतर भी विवेक रुपी महासूर्योदय से मोहान्धकार को नष्ट करने का प्रयत्न करना होगा ।

'आत्मानुभव के तीन लक्षण'

अर्थोह्यनर्थो बहुधा मतोऽयम्,
स्त्रीणां चरित्राणि शवोपमानि ।
विषेण तुल्या विषयाश्च तेषां,
येषां हृदि स्वात्मलयानुभूतिः ॥11॥ (उपजाति)

शब्दार्थ

अर्थो=धन-सम्पत्ति,
हि=वास्तव में,
अनर्थः=विपत्ति का कारण है,
बहुधा=अनेक प्रकार से,
मतः=आत्मानुभवी द्वारा माना गया है,
अयम्=यह,
स्त्रीणां=नारिओं का,
चरित्राणि=आचरण,
शवोपमानि=मृत देह की उपमावाला है,
विषेण तुल्या=तत्काल मरण देनेवाले जहर के समान है,
विषयाः च=और पांच इन्द्रियों के शब्द, रुप, गंध, रस और स्पर्श रुप पांच विषय,
तेषां=उनको,
येषां=जिनके,
हृदि=दिल में,
स्वात्मलयानुभूतिः=अपनी आत्मा में लीनता का अनुभव हुआ है ।

गाथार्थ

जिनके हृदय में अपनी आत्मा में लीनता का अनुभव हुआ है, उनको धन-सम्पत्ति रुप अर्थ अनेक प्रकार के अनर्थ का कारण लगता है, स्त्रिओं का आचरण मृतदेह के समान लगता है और पाँच इन्द्रियों के विषय तत्काल मरणदायी विष के समान लगते है ।

विवेचन

पिछले श्लोकों में दुःख मुक्ति का उपाय और उसके लिए विवेकज्ञान की आवश्यकता बताई । इस उपदेश का आचरण करके जिसके जीवन में आत्मलीनता का अनुभव हुआ है उनके लक्षण इस श्लोक में बताए है ।

ग्रंथकार पुनः इस श्लोक में आत्मिक वैद्य बनकर आत्मानुभव के तीन लक्षण बता रहे है ।

किसी को जहर उतारने की दवाई देकर कुशल वैद्य उसे नीम के कडवे पत्ते खिलाकर परीक्षा करता है । यदि दर्दी नीम के कडवे पत्ते सहज खा लेता है, तो वैद्य समझ लेता है कि इसका जहर नहीं उतरा और यदि दर्दी नीम के पत्ते मुंह में डालते ही थू-थू करे, अरुचि बताए तो वैद्य समझ जाता है कि इसका जहर उतर गया है ।

वैसे ही जिसने अपनी आत्मा के सच्चे स्वरुप को समझा है, उसकी रागोद्पादक पदार्थों के प्रति दृष्टि बदल जाती है । ग्रंथकार इस श्लोक में तीन परीक्षा बता रहे है ।

1) उसे अर्थ अनेक अनर्थ का कारण लगता है ।

2) उसे स्त्रियों का चरित्र शव के समान लगता है ।

3) उसे पांच इन्द्रियों के विषय तीव्रघाती विष के समान लगते है ।

वास्तव में देखा जाए तो जगत् में ये तीनों बाते बिल्कुल सत्य है । जिसको आत्मा की अनुभूति हुई है, उसे अपनी आत्मा के भीतर रहे अनंत गुणों में ही सुख का अनुभव होता है । अपनी आत्मा के भीतर रहे निःसीम आनंद में वह इतना मशगुल होता है कि उसमें विक्षेपकारी सभी पदार्थ विषम विष के समान लगते है ।

ज्ञानसार ग्रंथ में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी भी कहते है–

'यस्य ज्ञान सुधासिन्धौ परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तर संचार-स्तस्य हालाहलोपमः ।।'

अर्थात्–जिसे परब्रह्म रुपी ज्ञानामृत महासागर में मग्नता प्राप्त हुई है, उसे अन्य विषयों में प्रवेश करना तीव्र विष के समान लगता है ।

परंतु, मोह की विषमता है कि वह हमें आत्मलय में मग्न होने ही नहीं देता है । हमारा मन सुअर की तरह अर्थ और काम के कीचड में ही लीन होना चाहता है ।

स्त्री चरित्र

❍ एक बार नारदजी किसी मार्ग से जा रहे थे । बीच मार्ग में बडी गट्टर थी । सारे गांव की गंदगी के एकस्थान उस गट्टर में कई सुअर डूबे हुए थे । गंदगी में रहे उन सुअरों को देख नारदजी को दया आ गई । उन्होंने सुअरों को कहा **''मुझ से तुम्हारी यह दुर्दशा देखी नहीं जाती । चलो, मैं तुम्हें स्वर्ग में ले जाता हूँ ।''**

नारदजी की बात सुनकर एक सुअर ने पूछा–**''स्वर्ग में क्या है ?''**

''अरे, ''स्वर्ग में तो रंगबिरंगे सुंदर खुश्बुदार फूलों से भरे बाग-बगीचे है । मनमोहक अप्सराओं के गीत-गान-नृत्य है । अपार धन संपत्ति है । स्वादिष्ट भोजन है । मीठे जल से भरी नदियाँ, तालाब और फव्वारे है ।'' इस प्रकार नारदजी स्वर्ग में रही अलौकिक वस्तुओं का वर्णन कर रहे थे, परंतु सुअरों में से किसी एक के चेहरे पर भी कोई खुशी नजर नहीं आ रहा थी ।

यह देखकर नारदजी ने अंत में कहा-इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो स्वर्ग में न हो । क्या तुम्हे अभी भी कुछ कमी लग रही है ?

सुअर बोला–क्या ऐसी गट्टर स्वर्ग में है ?

'छी ! ऐसी गंदी गट्टर ! ऐसी गट्टर तो स्वर्ग में नहीं है ।' नारदजी बोले ।

तो हमे आपके स्वर्ग से कोई काम नहीं है, हम तो यही परम सुखी है । बिचारे नारदजी, क्या बोले ? चुप चाप वहां से चले गए ।

वास्तव में इस संसार में अपनी हालत भी उस सुअर जैसी है । ज्ञानी भगवंत की नजर में हम सभी संसारी जीव पांच इन्द्रियों के भोग के कीचड

में खेल रहे है । इस कीचड में हमारी दुर्दशा को अच्छी तरह जानते है । उन्हें हमारी इस स्थिति पर दया आती है । वे चाहते है कि हम भी भोग के कीचड में से बाहर निकल कर सदा आनंद दायी मोक्ष में जाए । हमारे आत्मोद्धार के लिए वे संसार की भयंकरता और मोक्ष सुख की भद्रंकरता बताते हुए सतत धर्मोपदेश देते है, परंतु हम भी सुअर की तरह उन्हें यही प्रश्न करते है कि **''मोक्ष में क्या है ?''**

मोह के काले चश्मे पहनने के कारण **'मोक्ष में अनंत आनंद है'**–इस बात पर विश्वास ही नहीं होता । मात्र धन और पांच इन्द्रिय के विषय भोग में ही सुख नजर आता है । इसलिए हमारे जीवन का अमूल्य समय धन कमाने में बीत जाता है ।

धन कमाने के बाद पांच इन्द्रियों के विषय भोग में जीवन का अमूल्य समय चला जाता है । पत्नी और परिवार के भरण-पोषण में धन का अधिकाधिक व्यय हो जाता है । परंतु धर्म की इच्छा नहीं होती ।

वास्तव में धन, स्त्री और विषयों का विष कितना खतरनाक है यह समझना खूब जरुरी है ।

पंचतंत्र नाम के ग्रंथ में दृष्टांत से हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते है–

देवशर्मा

एक मठ में देवशर्मा नाम का संन्यासी रहता था । उसके भक्तगण मूल्यवान वस्त्र आदि भेंट लाकर देते थे । भेंट आये वस्त्रों में से सुंदर वस्त्रों को बेचने से उसके पास बहुत धन इकट्ठा हो गया । अपना धन चोरी न हो जाय इसलिए धन की पोटली बनाकर दिन-रात उसे बगल में दबाए रखता था । हमेशा सर्तक रहकर धन की रक्षा करता था ।

एक दिन आषाढभूति नाम के ठग ने उसे देखा । धन की पोटली देखकर उसने चोरी करने का मन बना लिया । मठ के आस-पास की बडी दिवारों पर चढने का प्रयत्न किया परंतु निष्फल रहा ।

अन्य सभी उपाय निष्फल गए । अंत में उसने संन्यासी का शिष्य बनकर ठगने का निश्चय किया ।

विनय और नम्रता का ढोंग करते हुए दण्डवत् प्रणाम करके बोला–**'हे भगवन् ! यह संसार असार है । जीवन क्षण भंगुर है । विषय का भोग भयंकर है । इसलिए मैं संसार सागर से पार उतरना चाहता हूँ । अतः आप बताइए मैं क्या कर सकता हूँ ?'**

नवयुवक ठग की वैराग्य भरी मीठी-मीठी बाते सुनकर संन्यासी ने बडे आदर और प्रेम के साथ उसे उत्तर दिया–**'हे वत्स ! तुम धन्य हो ! तुम्हें इतनी छोटी उम्र में वैराग्य हुआ है । वृद्धावस्था में इन्द्रियों के शिथिल होने के बाद वैराग्य होना आसान है परंतु भर जवानी में हुआ वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है । यदि तुम संसार पार करना चाहते हो तो शिवमंत्र से दीक्षित होकर भस्म ओर रुद्राक्ष धारण करके साक्षात् शिव स्वरुप बन जाओ ।'**

संन्यासी का उपदेश सुनकर ठग बोला-**'हे भगवन् ! कृपा करके आप ही मुझे दीक्षित करके अपना शिष्य बना लो ।''**

संन्यासी बोला–**'हे वत्स ! मैं तुझे एक शर्त पर दीक्षित करुंगा-तुम रात को इस मठ में प्रवेश नहीं कर सकोगे । तुम्हें मठ के दरवाजे पर कुटिया बनाकर रातभर सोना होगा ।''**

ठग बोला–**''जैसी आपकी आज्ञा । आपकी आज्ञा पालन करने में ही मेरा आत्महित रहा है ।''** इस प्रकार मीठा बोलकर वह ठग, संन्यासी का शिष्य तो बन गया, परंतु उसका मन उस धन की पोटली में था । चोरी के इरादे से वह देवशर्मा संन्यासी की हाथ-पैर दबाकर सेवा करता है । तेल-मालिस करता है । विश्वास पैदा करने का प्रयत्न करता है । परंतु देवशर्मा उस पर विश्वास किये बिना हमेशा पोटली को अपनी बगल में दबाए रखता है ।

बहुत समय के बाद भी जब उसे चोरी करने का अवसर नहीं मिला । वह ठग उसे मारने का विचार करने लगा । अचानक एक दिन भाग्य योग से दूसरे

गाँव से आकर आमंत्रण देते हुए किसी ने कहा, **'हे भगवन् ! शिवजी का पवित्रारोपण महोत्सव संपन्न करने आप हमारे गाँव पधारे ।'**

निमंत्रण प्राप्त कर देवशर्मा संन्यासी अपने शिष्य आषाढभूति को लेकर उस गाँव की ओर चला । बीच में एक नदी आयी । स्नान करने की इच्छा से संन्यासी ने धन की पोटली निकालकर अपने वस्त्र में छिपाकर आषाढभूति से कहा **''वत्स ! मैं शौच के लिए जा रहा हूँ, जब तक वापस न आऊँ तब तक इन वस्त्रों को, जिसमें शिवजी की मूर्ति रखी है उसकी सावधानी से रक्षा करना ।''**

गुरु की आज्ञा को तहत्ति करके वह आषाढभूति खूब प्रसन्न हो गया । देवशर्मा कुछ दूर चला गया, तब वह उस धन की पोटली को लेकर भाग गया । वह अपने नापाक इरादे में कामयाब हुआ ।

इधर देवशर्मा संन्यासी ने रास्ते में एक आश्चर्य देखा । वन में चरते हुए भेडों के झुण्ड में दो भेडों को लडते हुए देखा । वे दोनों भेड क्रोध से दूर तक पीछे हटकर बडी वेग से वापस आकर अपने शिरों से टक्कर मारते थे । दोनों के मस्तकों से बहुत-सा खून गिरता था । रसना के स्वाद में लुब्ध एक गीदड़ भीतर घुस कर खून पीता था ।

इस आश्चर्य को देखकर देवशर्मा मन ही मन विचार करने लगा– **''अहो ! यह गीदड कितना मुर्ख है । इन दोनों की टक्कर की चपेट में आकर कदाचित् मर भी सकता है ।''** जीभ के स्वाद में लुब्ध होकर वह अपने जीवन को जोखिम में डाल रहा है । इस प्रकार वह विचार कर ही रहा था कि सच में वह गीदड दोनों भेडों की टक्कर के बीच में आ गया और तुरंत मर गया ।

गीदड की इस दशा को देखकर मन ही मन में शोक करता हुआ वापस लौटता है । जैसे ही वह अपने स्थान पर पहुँचता है, आषाढभूति को गायब देखकर आश्चर्य चकित हो जाता है । वहाँ पडे अपने कपडों में धन की पोटली ढूंढता है, परंतु वह पोटली तो ठग चुराकर भाग चुका था । अपनी पोटली गायब देखकर रोता हुआ, मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर

पड़ा । **कुछ देर बाद होश में आकर जोर जोर से आषाढभूति को आवाज देता है । विलाप करते हुए उसने आषाढभूति के पदचिन्हों को खोज कर उस दिशा में आगे बढा ।**

शाम तक चलते-चलते वह एक गाँव में पहुँचा । उसी समय एक किसान अपनी पत्नी के साथ पास के गाँव में जा रहा था । देवशर्मा थक चुका था । उसे आराम करने के लिए योग्य स्थान चाहिए था । किसान को देखकर **''हे भद्र ! सूर्यास्त के इस समय मैं तुम्हारे अतिथि के रुप में आया हूँ । अतः मेरा अतिथि सत्कार करके पुण्य कमा लो ।''**

संन्यासी देवशर्मा की बात सुनकर किसान ने उसे प्रणाम किया और अपनी पत्नी को बोला–**''हे प्रिये ! तूं इस अतिथि को घर ले जा । इनके स्नान, भोजन, शयन आदि की व्यवस्था कर । मैं पास के गांव से मदिरा लेकर आता हूँ ।''** ऐसा कहकर किसान पास के गांव की ओर चला गया ।

किसान की पत्नी संन्यासी को साथ लेकर घर की ओर चल पडी । घर पहुँचकर देवशर्मा संन्यासी को टूटी-सी खाट देकर कहने लगी-**'हे भगवन् ! जल्दी से मैं अपनी सखी से मिलकर आती हूँ, तब तक आप मेरे घर की रखवाली करे ।'** ऐसा कहकर अपना श्रृंगार करके अपने यार के पास जाने लगी ।

व्यभिचारीणी स्त्री सुंदर, विद्वान, मनोनुकूल प्रिय पति, हवेली, मखमली-गद्दी-तकिये आदि सुख की सामग्रियों को छोड़कर जंगल, शुन्यघर, अंधकार स्थान आदि में जाकर उबड-खाबड काँटो वाली जगह में पर पुरुष के साथ व्यभिचार करने में अधिक सुख का अनुभव करती है । बुरी आदत से लाचार रहती है ।

जैसे ही किसान की पत्नी अपने यार के पास जाने लगी, उसी समय शराब के नशे में चकचूर होकर उसका पति अपने घर लौटा । उसे आते देखकर वह दौड़कर वापस घर आ गयी । अपने श्रृंगार को दूर कर दिया । किसान ने उसकी हरकत देखकर और पूर्व में लोगों से सुनी अपनी

पत्नी के व्यभिचार की बातों को याद कर खूब क्रोधित हुआ । गुस्से से वह अपनी पत्नी को डांटने लगा । अरे व्यभिचारिणी ! तेरे व्यभिचार की बाते बहुत दिनों से सुन रहा था, आज अपनी आँखों से देखकर उन बातों पर विश्वास हो गया है । आज तुझे दण्ड देता हूँ । ऐसा कहकर उसे डण्डे से पीटकर खम्भे से बांधकर वह किसान सो गया ।

कुछ देर बाद उसकी सखी ने आकर कहा, **'हे सखि ! तुम्हारा यार संकेत स्थल में तेरी प्रतीक्षा कर रहा है । अतः जल्दी जा ।'**

उसने कहा–हे सखि ! मेरी हालत तो देख । खम्भे से बँधी वहाँ कैसे जाऊँ ?

सखी बोली, **'देख, तेरा पति नशे में चूर है, इसलिए सुबह तक तो नहीं जगेगा । अतः मैं तेरे बन्धनों को खोल देती हूँ । तूं अपनी जगह मुझे बांध दे और जाकर जल्दी आ जा ।'** सखी की बात मानकर वह जल्दी से यार के पास चली गई ।

कुछ देर बाद किसान का नशा कुछ उतर गया । वह उठकर सखी को ही अपनी पत्नी समझकर उसे कहने लगा-**'प्रिये ! आज से यदि तू ऐसा काम नहीं करेगी तो तेरे बंधन खोल देता हूँ ।'** परंतु वह सखी यदि कुछ बोले तो किसान उसे पहचान लेगा, इसलिए चूप रही । बार-बार पुछने पर भी जब वह कुछ नहीं बोली, तब गुस्से में आकर किसान ने उसका नाक काट लिया । किसान फिर से सो गया । इतने में किसान की पत्नी वापस लौटी ! सखी ने उसे नाक काटने आदि की सभी हकीकत बताई । उसने सखी के बंधन खोलकर अपने आप को खम्भे पर बांध दिया । और अपना मुंह साडी से छिपा दिया । सखी अपने घर चली गई ।

रात बीती, दिन उगा । किसान का नशा उतर गया । वह जगा । खम्भे पर बँधी पत्नी को देखकर पुनः क्रोधित होकर चिल्लाने लगा । **``बोल, आज से ऐसा काम कभी नहीं करेगी न ।''**

तब सतीत्व को ढोंग करते हुए हाथ जोडकर प्रार्थना करती हुई बोली–**''हे क्षेत्र देवता ! हे परमात्मा ! यदि मैंने अपने मन से भी परपुरुष की इच्छा न की हो, तो मेरी पवित्रता सिद्ध करने के लिए, रात को पति का काँटा हुआ मेरा नाक वापस आ जाए ।''**

ऐसा कहकर उसने अपना घुंघट उठाया । उसका नाक अखंड था । यह देखकर उसका पति एकदम चौक गया । उसे अपनी आँखो पर विश्वास नहीं हो रहा था । एक ओर खून की धारा और छूरी को देखा तो दूसरी ओर अपनी पत्नी का अखंड नाक देखा । उसे लगा-मैंने बहुत बडी गल्ती कर दी । यह तो पवित्र सती है, ऐसा मानकर उसने पत्नी के बंधनों को खोला और पैर में पड़कर माफी मांगने लगा । **बिचारा वह क्या जाने अपनी स्त्री के चरित्र को !**

सामने खाट पर लेटा हुआ देवशर्मा संन्यासी सारी घटना को देखकर विचार करने लगा, `स्त्री के चरित्र को समझना अशक्य है । ये स्त्रियाँ हँसते हुए को हँसकर, रोते हुए को रोकर अप्रिय या क्रूर वाक्य बोलते व्यक्ति को मीठे और प्रिय वचनों से जाल में फँसाती है ।

स्त्रियों की माया बडी कठिन है । बडे बडे विद्वान और शूरवीर भी स्त्रियों की परीक्षा करने में असमर्थ है । स्त्रियाँ अपने मुख से तो मीठी मीठी बाते बोलती है, परंतु हृदय से तो पुरुषों पर आक्रमण ही करती है । स्त्री की वाणी में मधुरता और अमृत रहता है, परंतु हृदय में महा भयंकर विष ही भरा है ।

इस प्रकार अपनी धन की चोरी से अर्थ की अनर्थता, स्त्री हृदय की कुटिलता और गिदड की मौत को देखकर विषयों से विरक्त होकर देवशर्मा संन्यासी अपने मठ में चला गया ।

यह दृष्टांत हमे जो प्रेरणा देता है, उसे अपनाकर अपने जीवन में आत्मिक सुख में लीन बनने का प्रयत्न करना चाहिए ।

परचिन्ता छोडे

कार्यं च किं ते परदोषदृष्ट्या,
कार्यं च किं ते परचिन्तया च ।
वृथा कथं खिद्यसि बालबुद्धे !
कुरु स्वकार्यं त्यज सर्वमन्यत् ।।12।। (उपजाति)

शब्दार्थ

कार्यं च किं ते=तुझे क्या प्रयोजन है ?,
परदोषदृष्ट्या=अन्य व्यक्तियों के दोष देखने में,
परचिन्तया च=और अन्य व्यक्तियों की चिंता करने में,
वृथा=व्यर्थ,
कथं=क्यों,
खिद्यसि=तूं खेद पाता है,
बालबुद्धे !=हे अज्ञानी जीव !,
कुरु=कर,
स्वकार्य=अपना कार्य,
त्यज=तूं छोड दे,
सर्वमन्यत्=अन्य सभी पंचायत को ।

गाथार्थ

हे बाल बुद्धि अज्ञानी जीव ! अन्य व्यक्ति के दोष देखने में और उनकी चिंता करने में तुझे क्या फायदा हैं ? ऐसा करके तूं व्यर्थ ही खेद पाता है, अतः अन्य सभी पंचायत को छोडकर तू अपना कार्य कर ।

विवेचन

आत्मानुभव के तीन लक्षण बताकर इस श्लोक में ग्रंथकार हमें आत्म साधना में बाधक सबसे बडे दोष **पराई-चिन्ता** के त्याग का उपदेश दे रहे है । सावधान करते हुए वे हमें कह रहे है कि **``अन्य के दोष दर्शन से तुझे कोई फायदा नहीं है । यदि दोष दर्शन करने ही है तो स्वयं के दोषों को देखकर उन्हें दूर करने का प्रयास कर । व्यर्थ ही अन्य के जीवन में रहे दोषों को आगे करने की चिंता करने से तुझे कोई लाभ नहीं होगा । यदि दोष दर्शन की यह प्रवृत्ति तेरे जीवन में से नहीं गयी तो ये सारे दोष तेरे जीवन में आये बिना नहीं रहेंगे । इसलिए उस ओर लक्ष्य किये बिना तुं तेरी आत्म साधन में लीन बन । परायी चिंता को छोड कर स्वचिंता में अपने जीवन को केन्द्रित कर ।''**

शंका–धर्म तो कहता है स्वयं का विचार करना स्वार्थ है । स्वयं के स्थान पर सर्व को केन्द्रित करना ही परोपकार है और परोपकार ही सबसे बडा धर्म है । परोपकार से ही तो इस पृथ्वी पर तीर्थंकर जन्म लेते है । तो फिर ग्रंथकार हमें इस श्लोक के द्वारा परचिन्ता के त्याग का उपदेश क्यों दे रहे हैं ?

समाधान–सत्य है कि ग्रंथकार हमें इस श्लोक के द्वारा परचिन्ता के त्याग का उपदेश दे रहे है परंतु परचिन्ता भी तीन प्रकार की है-

1) निरर्थक परचिन्ता

2) द्वेष जन्य परचिन्ता

3) परोपकारवाली परचिन्ता

आओ ! इन तीन प्रकार की परचिन्ता को विस्तार से जाने–

1) निरर्थक परचिन्ता – जिस चिंता में वास्तव में अन्य से कोई लेना देना नहीं हो, मात्र समय और शक्ति का व्यय होता है । जैसे–

परचिंता

एक संत सभा समक्ष प्रवचन दे रहे थे । प्रवचन समाप्ति के बाद एक युवकने संत को नमस्कार कर पूछने लगा–**''आप कहते है कि परमात्मा का उपदेश सभी जीवों के लिए एक समान लाभदायी है । क्या यह सत्य है ?''**

संत ने उत्तर दिया – **हाँ !**

युवक ने फिर से पूछा - **जो कानों से सुन नहीं सकते ऐसे बधिर को प्रवचन से क्या लाभ ? जो आँखों से देख नहीं सकते ऐसे अंध को दर्शन नहीं होता तो उन्हें सत्संग से क्या लाभ ? जो पैरों से चल नहीं सकते ऐसे पंगु व्यक्ति सत्संग में कैसे पहुँच सकते है ? तो फिर सत्संग सभी को एक समान लाभदायी है ऐसा कैसे कह सकते है ?**

संत होशियार थे । उन्होने युवक में वास्तविक चिंता के बदले मात्र स्व-पर की शक्ति का व्यय ही देखा । उसे सबक सिखाने के लिए संत ने उसे अपने पास बुलाया । फिर संत ने युवक को जोर से तमाचा मारा ।

युवक जोर से चिल्लाया और बोला–आप यह क्या कर रहे हो ?

संत ने शांति से कहा, `अच्छा ! तुम बताओ–तुमने मेरे शब्दों को सुना, मतलब तुम बधिर नहीं हो । तुम चलकर मेरे पास आये, मतलब तुम पंगु भी नहीं हो । और तुम बराबर मेरे सामने खडे होकर मुझसे बात कर रहे हो, मतलब तुम अंध भी नहीं हो । बराबर ना ?

हा ! परंतु आप क्या कहना चाहते हो ? युवक ने पूछा ।

संत बोले, `भाई ! मैं यही कहना चाहता हूँ कि जो बधिर, अंध और पंगु है, उनकी बात करना तुम छोड दो । तुम अपनी बात करो । उनकी चिंता परमात्मा स्वयं करेंगे । व्यर्थ ही परायी चिंता करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है । यदि तुम हर तरह रुप से स्वस्थ हो तो बताओ, **`तुमने सत्संग से कितना लाभ लिया ?'**

शर्म से आँखे झुकाकर युवक बोला–**``थोडा भी नहीं ।''**

यह दृष्टांत कहता है कि, यदि आत्म साधना में विकास करना हो तो अन्य सब चिंता छोडकर अपना विचार करो । जो स्वयं की चिंता छोडकर अन्य की चिंता करता है, वह वास्तव में सिर्फ Timepass ही करता है ।

2) द्वेष जन्य परचिन्ता :– जिस चिंता में अन्य व्यक्ति के दोष देखकर उसे नीचा दिखाने का भाव रहता है, वह द्वेष जन्य परचिन्ता है । दोष दर्शन की यह प्रवृत्ति आत्म साधक के लिए अत्यंत ही खतरनाक है ! आत्मा के गुणरत्नों की चोरी करने का कार्य दोष दर्शन से होता है ! **दोष दर्शन = गुणरत्न का चोर ।**

सीधे रास्ते पर चलना आसान है, परंतु पर्वत पर चढना कठिन है । शिखरजी जैसे महातीर्थ पर चढते युवक को भी हाथ में लाठी लेनी पडती है और यदि बर्फिला पर्वत है तो सिर्फ लाठी से ही काम नहीं चलता है, तब तो नुकीले जुते, जेकेट, हेल्मेट और धातु से बनी तीखी स्टीक की भी जरुर पडती है । क्योंकि बर्फिले पर्वत पर चढना सबसे ज्यादा कठिन है । चढते-चढते एक छोटी सी भूल भी मौत का कारण बन सकती है । जितना खतरा ज्यादा, उतनी सावधानी जरुरी है ।

आत्म साधना के मार्ग पर चलना बर्फिले पर्वत पर चढने से भी ज्यादा कठिन है । उस पर चढने के लिए सद्गुणों का खजाना और आत्मलीनता अत्यंत जरुरी है । इसपर चढने के लिए दोष दर्शन की प्रवृत्ति सबसे बडा खतरा है । परंतु न जाने क्यों बडे-बडे आत्म साधक भी दोष दर्शन के जाल में फँसकर अपनी आत्म साधना हार जाते है । प्राप्त हुई लब्धियाँ और सिद्धियों को नष्ट कर देते है ।

अवधिज्ञान खोया

किसी मुनि ने तप साधना के बल पर काउस्सग्ग करते समय अवधिज्ञान प्राप्त किया । काउस्सग्ग में ही उनके मन में एक कुतुहल पैदा हुआ **``इस समय सौधर्म इन्द्र क्या कर रहे होंगे ? क्यों न मैं अपने**

अवधिज्ञान का उपयोग करके देखूं ?'' इस विचार के साथ उन्होंने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । उस समय इन्द्र महाराजा अपने से नाराज हुई इन्द्राणी को मना रहे थे । इन्द्र महाराजा की इस देशा को देखकर महात्मा को हँसी आ गई । इतने छोटे से प्रमाद के कारण उन्होंने अपना अवधिज्ञान खो दिया । ज्ञान पंचमी के देववंदन में अवधिज्ञान के चैत्यवंदन में यह बात बताई है–

नर तिरिय गुण थी लहे, शुभ परिणाम संयोग ।
काउस्सग्ग मां मुनि हास्यथी, विघट्यो ते उपयोग ।।

नवकारसी की इंतजारी

नमस्कार महामंत्र के अपूर्व आराधक वर्तमानकालीन एक महात्मा अपना अनुभव बताते हुए कहते है–**''जब मैंने दीक्षा ली, तब मैं नित्य एकासना एवं पर्वतिथि के दिनों में आयंबिल करता था । उस वक्त चौदस-आठम आदि पर्वतिथि के दिनों में जब नवकारशी करते हुए किसी साधु को देखता, तब मेरे मन में उनके प्रति दुर्भाव होता था, 'इतने स्वस्थ होते हुए भी ये महात्मा पर्वतिथि के दिनों में भी कोई विशेष तप नहीं करते ।''**

साधु जीवन के पाक्षिक अतिचार में भी `पर्वतिथिए उपवासादि तप किधो नहीं **''पंक्ति से बडे दिनों में तप न करना दोष रुप बताया है । अपनी श्रेष्ठता और अन्य की लघुता के अल्पकालीन मानसिक पाप की वजह से मेरे जीवन में तप का ऐसा अंतराय हुआ कि आज कई वर्षों से तीव्र सिर दर्द के कारण प्रतिदिन सुबह नवकारशी की राह देखनी पडती है । नवकारशी वापरकर दवाई लेने के बाद ही कुछ राहत होती है ।''**

ऐसे तो कई प्राचीन और अर्वाचीन उदाहरण हमें देखने को मिलेंगे कि दोष दर्शन की प्रवृत्ति के कारण अपने गुणों की प्रशंसा होती है जिससे जीवन में से सद्गुण का नाश एवं दोष का प्रवेश होता है । हमें प्राप्त हुए

गुण क्षयोपशम भाव के है । क्षयोपशम भाव के गुण कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होते है । जो गुण आज हमारे जीवन में है, वे आत्मिक गुणों का विकास करेंगे ही ऐसा नहीं है ।

महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी **ज्ञानसार** के **आत्म-प्रशंसा-त्याग** अष्टक में लिखते है–

आलंबिता हिताय स्युः, परै स्वगुणरश्मयः ।
अहो ! स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवौदधौ ।।

अर्थात्-यदि अन्य व्यक्ति हमारे गुण समुह का आलंबन ले तो वह उनके हित के लिए होता है, परंतु उन्हीं गुणों को यदि हम आलंबन ले (प्रशंसा करे) तो आश्चर्य है कि वे ही गुण हमे स्वप्रशंसा के कारण भवसमुद्र में गिराते है ।

अतः निरर्थक परचिंता और द्वेष जन्य परचिन्ता दोनों का त्याग कर परोपकावाली परचिन्ता करनी चाहिए ।

3) परपोकार वाली परचिन्ता – जिस चिंता में जगत् के सभी जीवों को परम सुखी बनाने की निर्मल भावना रही हो, वह परोपकारवाली परचिंता है । इस चिंता से स्वयं को भी लाभ है और अन्य को भी एकांत लाभ है ।

परोपकारवाली परचिंता ही तीर्थंकर पद का बीज है । पूर्व के तीसरे भव में जगत् के सभी जीवों को शासनरसिक बनाकर शाश्वत सुखी बनाने की निर्मल भावना से ही तीर्थंकर पद के योग्य आत्माएँ तीर्थंकर नाम कर्म की निकाचना करती है ।

आठ कर्मों में पुण्य की 42 प्रकृतियों में 158 प्रकृतिओं में से अन्य सभी कर्म प्रकृतियों का उदय जीवात्मा को लाभदायी हो, ऐसा जरुरी नहीं है । परंतु एक मात्र तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति ऐसी है, जो स्व-पर सभी के लिए लाभदायी होती है ।

तीर्थंकरों के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणक

की शुभ घडियों में चारों गतियों के जीवों को सुख का अनुभव होता है । यावत् नरक गति के जीवों को भी क्षण भर के लिए दु:ख से राहत मिलती है । यह प्रभाव परोपकार वाली परचिन्ता का ही है ।

परोपकार की भावना में वे सभी भव्य-अभव्य जीवों के आत्महित की चिन्ता करते है । स्नात्रपूजा में कहते है–**''जो होवे मुझ शक्ति इसी सवि जीव करूं शासन रसी''**

इस चौदह राजलोक रुपी समग्र विश्व में असंख्य निगोद के गोले है । प्रत्येक निगोद के गोले में असंख्य निगोदें है । प्रत्येक निगोद के शरीर में अनंतानंत आत्माएँ रही हुई है । इन अनंतानंत आत्माओं के अनंतवें भाग जितनी आत्माएं ही मोक्ष प्राप्त करती है । शेष सभी आत्माएँ सदाकाल के लिए निगोद में ही रहती है । उन सभी का कभी भी मोक्ष होने वाला नहीं है । निगोद में से निकली हुई अभव्य आत्माएँ कभी भी मोक्ष में जाने वाली नहीं है । सभी भव्य आत्माएँ भी मोक्ष में ही जाएगी ऐसा नहीं है ।

फिर भी करुणानिधान तीर्थंकर की आत्माएँ **'सवि जीव करुं शासन रसी'** की भावना करते है, न कि, **''भवि जीव करुं शासन रसी''** की भावना । कैसी अजब-गजब की परोपकारवृत्ति तीर्थंकरों की होती है ।

यदि परचिन्ता करनी ही तो ऐसी परोपकारवाली परचिन्ता करनी चाहिए, जो स्व-पर सभी के लिए एकान्त लाभदायी है ।

चार गति रुप इस संसार में एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों को सोचने-विचारने के लिए मन हीं नहीं मिला है । मन की प्राप्ति मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही होती है । उनमें भी नरक गति के जीव परमाधामी कृत वेदना, क्षेत्र कृत वेदना और परस्पर की लडाई के दु:ख के कारण अति दु:खी है ।

तिर्यंच गति के जीव अज्ञानता और अतिभूख के कारण दु:खी है और देव गति के जीव भौतिक सुख में डुबे हुए है । इन कारणों से तीन गति के जीव अपने मन में आत्मकल्याण का विचार भी नहीं करते है ।

आगे की लम्बी सोच मात्र मनुष्य के पास है । परंतु प्राप्त हुई लम्बी सोच का उपयोग मात्र इस जन्म के सुख पाने में ही करते है । स्वयं के सुख को केन्द्रित कर जो भी उस सुख प्राप्ति के बीच में आते है, उनके प्रति द्वेष-घृणा-ईर्ष्या-निन्दा और आगे चलकर निम्न कक्षा के दोषारोपण करते है । माया करना, षड्यन्त्र बनाना और उन्हें दुःखी करने के विचारों में आत्मा अपना आत्म हित भूल जाती है और घोर दुःखों से भरी नरक और निगोद में असंख्य और अनंत काल के लिए चली जाती है ।

मन सीढी की तरह है, जो आत्मा को सातवीं नरक में भी धकेल सकता है और शाश्वत सुख के स्थान स्वरुप मोक्ष भी प्राप्त करा सकता है । कहा भी है–

मन एव मनुष्याणाम्, कारणं बन्ध-मोक्षयोः ।।

❑ पुत्रचिन्ता में व्याकुल बने प्रसन्नचन्द्रराजर्षि ने सातवीं नरक में जाने की तैयारी कर ली थी । वे ही जब आत्मचिन्ता में लीन बने, तब सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष में चले गए ।

❑ पुत्र मोह में रोते-रोते माता मरुदेवा की आखों पर पटल आ गए थे । तब तक वह मिथ्यात्वी थी । परंतु जैसे ही तीर्थंकर की ऋद्धि के बीच बैठे अपने पुत्र ऋषभदेव की आत्मलीनता देखीं, तब अन्यत्व भावना से भावित होकर केवलज्ञान पाकर मोक्ष में चली गई ।

❑ अपनी प्रेमिका को प्रसन्न करने की इच्छा से पुरोहित पुत्र कपिल, राजा के पास मात्र दो माष सोने की इच्छा से गया था । परंतु यथेच्छ दान की मांग से वह आधा राज्य मांगने के लिए तैयार हो गया । भवितव्यता वश अपने विचारों से पीछे लौटा और क्रमशः केवलज्ञान पाकर कपिल केवली बन गए ।

❑ नटी के पीछे मोहित बना श्रेष्ठीपुत्र इलाचीकुमार अपनी सारी संपत्ति छोडकर राजा को खुश करने के लिए नट बनकर नाच करने लगा । परंतु जैसे ही सामने देखा कि एक पद्मिनी स्त्री महात्मा को

मोदक वहोरा रही है, फिर भी महात्मा अपनी नजर उँची किये बिना गोचरी वहोर रहे है' उसकी विचार धारा बदल गई । शुभ भावना से केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में चले गए ।

ऐसे अनेक दृष्टांत है, जिनमें आत्मा परभाव को छोडकर आत्मभाव में लीन बनी तो केवलज्ञान की भेंट पाकर मोक्ष में चली गई । तो साथ में ऐसे भी अनेक दृष्टांत है, दोष-दर्शन, ईर्ष्या आदि दुष्प्रवृत्ति के कारण अपनी आत्मा को दु:ख के गर्त में ले गए ।

❑ अंजना सती ने पूर्वभव में अपनी शोक्या स्त्री के सुख की ईर्ष्या के कारण परमात्मा की प्रतिमा को कचरे में फैंक दी थी । इस पाप के कारण उसे 22 वर्ष तक पति का वियोग सहन करना पडा ।

❑ महासती सीता ने वेगवती के अपने पूर्वभव में महात्मा के पूजा-सत्कार को देखा और उन पर झूठा कलंक लगाया । इस पाप के कारण उसे गर्भवती स्थिति में भयानक जंगल में जाना पडा ।

❑ पूर्वभव में देवरानी-जेठानी के रुप में रही देवानंदा और त्रिशला में से देवानंदा की आत्मा ने त्रिशला की आत्मा के रत्न की चोरी की । इस पाप के कारण उसे जगत् पूज्य परमात्मा महावीर स्वामी को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ ।

प्राय: ये सभी दोष पराये सुख की ईर्ष्या से पैदा हुए थे । जिसके पीछे दोष देखने की निम्न प्रवृत्ति कारण है । अब पसंद हमारी है । हमें क्या करना है ?

इसलिए ग्रंथकार इस गाथा में हमें **''बालबुद्धि''** के नाम से संबोधित कर रहे है कि **''परायी दोषदर्शन की प्रवृत्ति को छोडकर आत्म-केन्द्रित जीवन जीओ । जिससे तुम निष्प्रयोजन दु:खों से बचकर परम आनंद में मग्न बन सकोंगे ।''** ग्रंथकार की यह सलाह हमें परमानंददायी बनेगी ।

मुर्खता से बचने का उपदेश

यस्मिन् कृते कर्मणि सौख्यलेशो,
दुःखाऽनुबन्धस्य तथाऽस्ति नान्तः ।
मनोऽभितापो मरणं हि यावद्,
मुर्खोऽपि कुर्यात् खलु तन्न कर्म ।।13।। (उपजाति)

शब्दार्थ

यस्मिन् कृते कर्मणि=जिस कार्य को करने में,
सौख्यलेशो=सुख का अंश मात्र है,
दुःखाऽनुबन्धस्य=दुःख की परंपरा बढानेवाले का,
तथा=और,
अस्ति=है,
न=नहीं,
अन्तः=सर्वनाश,
मनोऽभितापो=मानसिक क्लेश,
मरणं हि यावद्=यावत् मरण भी हो सकता है,
मुर्खः=विवेकहीन पागल व्यक्ति,
अपि=भी,
कुर्यात्=करता है,
खलु=वास्तव में,
तत्=वह,
न=नहीं,
कर्म=कार्य ।

गाथार्थ

जिस कार्य को करने में सुख का अंश मात्र हो और वह अनंत दुःख की परंपरा को बढाने वाला हो, मानसिक क्लेश को पैदा करता हो और यावत् मरण का कारण हो, ऐसा कार्य वास्तव में कोई विवेकहीन पागल व्यक्ति भी नहीं करता है ।

विवेचन

पिछले दो श्लोकों में ग्रंथकारश्री ने हमें परदोषदर्शन का त्याग करने और आत्मा में लीन बनने का उपदेश दिया। **इस श्लोक में वे हमें परिणाम में अतिदुःखदायी क्षणिक सुख से विरक्ति पाने की प्रेरणा दे रहे है ।**

आत्मा को ऊपर उठाने वाले अरिहंत आदि नवपद है, वैसे ही आत्मा को नीचे गिरानेवाले पांच इन्द्रिय के विषय और चार कषाय की जोडी रुप नवपद है । **अनादिकाल से आत्मा की दुर्दशा का मुख्य कारण यही जोडी है। इसी जोडी ने आत्मा को अंध बनाकर रखा है ।** अपनी आत्मा अज्ञान के अंधेरे में दर-दर भटक रही है। जैसे किसी गर्भ श्रीमंत व्यक्ति का पुत्र अपने वास्तविक स्वरुप को नहीं जानने के कारण घर-घर भीख मांगता है, वैसे ही हमारी आत्मा भी अपने वास्तविक स्वरुप को नहीं जानती हुई चारों गतियों में अपार दुःखों का अनुभव कर रही है। महामुर्ख की तरह क्षणिक, विनश्वर, परवश ऐसे पौद्गलिक पदार्थों में सुख मानकर दुःखों का अनुभव कर रही है। **जैसे मुर्ख व्यक्ति कोई भी कार्य बिना सोचे-समझे करता है, वैसे हम भी विचार किए बिना मुर्ख बंदर ती तरह अकार्य करते हुए मरण को गले लगाने की मुर्खता कर रहे है ।**

मुर्ख बंदर

एक सेठ ने अपने नगर के समीप में मंदिर बनवाने का कार्य प्रारंभ किया। मंदिर बनाने वाले सुथार आदि सूर्योदय से ही मंदिर बनाने के कार्य में लग जाते थे। दोपहर के समय नगर में जाकर वे सभी भोजन करते थे। **एक दिन किसी सुथार ने अर्जुन वृक्ष की लकड़ी को चीरने का काम उठाया था।** दोपहर तक लकडी चीरने का काम पूरा नहीं हुआ। भोजन का समय होने से आधी फटी उस लकडी में एक मजबूत कीली गाडकर नगर में चला गया।

अचानक उसी दिन बंदरों का एक समुह वहाँ आया। चंचल स्वभाववाले

सभी बंदर वृक्षों पर आकर स्वेच्छा से क्रीडा करने लगे । उनमें से एक बंदर आकर अर्जुन वृक्ष की उसी लकडी को छेडने लगा, जो आधी फटी हुई थी ।

कुतुहल से उसने लकडी के बीच में रही कीली को देखा । अपने चंचल स्वभाव से मजबूर वह उस कीली को खींचने का प्रयत्न करने लगा । कीली लकडी में इतनी मजबूती से लगी हुई थी कि उसे निकालना आसान नहीं था । कठिन कार्य करने में उत्साहित उस बंदर ने लकडी पर चढकर जोर लगाकर उस कीली को खींचा ।

एक-दो बार प्रयत्न करने पर कीली की पकड कुछ ढीली हो गई । अंत में अधिक उत्साहित होकर उसने कीली को जोर से खींचा और कीली निकल गई । **लकडी के दोनों भाग जुड गए । झटका इतना जोर से हुआ कि वह अपने आप को संभाल न सका और उसका गुप्तांग उसके बीच में आकर पीस गया ।** उसी क्षण वह करुण मौत से मर गया ।

पास खडे सभी बंदर झटके की आवाज सुनकर चमक गए । तडफते हुए मुर्ख बंदर की मौत देखकर सभी बंदर सावधान हो गए । दूम दबाते हुए सभी अपने स्थल पर चले गए ।

बंदर का समुह इतना समझदार था कि एक की मौत देखकर सावधान बन गया । उन्हें किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं पडी । वे स्वतः ही अपना हित-अहित समझ गए ।

परंतु इतने इतने दृष्टांत और मार्मिक उपदेश देने पर भी, अभी तक अपनी आत्मा नहीं समझी है कि मेरा हित और अहित किस में रहा है, इसलिए ग्रंथकार हमें पुनः इस गाथा के द्वारा प्रेरणा दे रहे है कि– **''ऐसा कार्य तो कोई मुर्ख भी नहीं करता, जिसमें कण जितना सुख हो और मण और टन जितना अपार दुःख हो ।''**

ऐसा कहकर वे यही कह रहे है कि सारी दुनिया को मुर्ख बनाने वाला तू स्वयं ही मुर्खता कर रहा है । संसार का सुख, वास्तव में सुख नहीं बल्कि दुःख की परंपरा को बढाने वाला है ।

एक बालक समुद्र के किनारे पर घुमता हुआ Ice-cream खा रहा था । अचानक उसके हाथों से वह Ice-cream नीचे गिर गई । उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि वह दूसरी Ice-cream खरीद सके, इसलिए उसी Ice-cream को उठाकर मुख में डालने लगा । **उसने रेती से भरी उस Ice-cream को मुख में डाला, Ice-cream के स्वाद से भी अधिक निरस रेती उसे चबानी पडी । संसार का सुख भी रेती से लिपटी हुई Ice-cream जैसा है ।**

सुख को पाने के लिए दु:खों का क्लेश सहना पडता है, फिर भी पांच इन्द्रिय के सुख और चार कषायों की मीठी खुजली हमसे छूटती नहीं है ।

जिस तरह खुजली का दर्दी जैसे जैसे शरीर को खुजलता है, वैसे वैसे पहले तो उसे कुछ राहत का अनुभव होता है, परंतु उसकी खुजली शांत नहीं होती, बल्कि बढती जाती है । पहले नाखुन, फिर कंघी और अंत में छूरी से खुजलाकर अपनी त्वचा को नष्ट कर देता है । उसी तरह विषयों की यह खुजली प्रारंभ में सुखदायी होकर अंत में दु:खदायी ही होती है ।

इन्द्रिय और कषाय की इस जोडी को जीतना कितना जरुरी है–यह बात कलिकाल सर्वज्ञ **पूज्य आचार्य हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. योगशास्त्र** के चौथे प्रकाश में फरमाते है–

अयमात्मैव संसार: कषायेन्द्रियनिर्जित: ।
तमेव तद्विजेतारं, मोक्षमाहुर्मनीषिण: ।।

अर्थात्–कषाय और इन्द्रियों से जीती गई यह आत्मा ही संसार है और इसी को जीतने वाली आत्मा मोक्ष है ।

अत: इनके स्वरुप को समझकर इन्हें जीतने का प्रयास करना आवश्यक है ।

पांच इन्द्रियों की गुलामी

(1) स्पर्शनेन्द्रिय – कोमल - मुलायम पदार्थ का स्पर्शकर सुख पाने की इच्छा स्पर्शनेन्द्रिय की गुलामी है । इसकी गुलामी के कारण महाशक्तिशाली

हाथी भी मनुष्य के वश हो जाता है । हाथी अत्यंत ही कामी पशु है । कमजोरी का फायदा उठाते हुए हाथी को वश करने वाले मनुष्य जंगल में बहुत बडा खड्डा खोदते है । उस पर घास आदि बिछाकर उसे ढंक देते है । फिर सामने की ओर हथिनी को खडी करते है । हथिनी के स्पर्श में मोहित बना महाकाय हाथी उस ओर दौडता है और कामांध बनकर बीच में रहे खड्डे में गिर जाता है । यही से उसकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है ।

पहले उसे खड्डे में महिने-दो महिने तक भूखा–प्यासा रखते है, जिससे वह पूरी तरह से कमजोर हो जाता है । फिर उस पर जुल्म की बरसात होती है । चाबूक और हंटरों की मार के बाद उसे बाहर निकालते है और लोहे की जंजीरों से बांधकर रखते है । जैसे ही वह उन जंजीरों को तोडने का प्रयास करता है, शारीरिक कमजोरी के कारण वह असफल होता है । उसके शरीर से खून निकलने लगता है ।

अंत में वह मन से हार जाता है और जिदंगी भर की गुलामी का स्वीकार कर लेता है । समय जाने के बाद जब वह पुनः हष्ट-पुष्ट बनता है, तब एक सामान्य लोहे की जंजीर को तोडने के लिए भी अपने आप को असमर्थ मानता है । इस तरह स्पर्शनेन्द्रिय की गुलामी महाकाय हाथी को भी जंजीरों से बांध देती है ।

(2) रसनेन्द्रिय – स्वादिष्ट और मनपसंद भोजन को चखकर सुखी होने की इच्छा रसनेन्द्रिय की गुलामी है । मच्छीमार मछलियों को पकडने के लिए कांटों में मांस का टुकडा लगाकर पानी में फेंकते है । उसे खाने की इच्छा से बडी-बडी मछलियाँ जैसे ही उसे अपने मुंह में डालती है, वह काँटा उनके तालू में लग जाता है । वे बे मौत मर जाती है ।

(3) घ्राणेन्द्रिय – सुगंध को सुंघकर सुखी होने की इच्छा घ्राणेन्द्रिय की गुलामी है । सूर्यमुखी कमल की सुगंध में मोहित बना भ्रमर सूर्यास्त होने पर भी उसे छोडता नहीं है । कमल बंद हो जाता है । भ्रमर उसकी सुगंध में इतना आसक्त होता है कि अपने पास कठोर लकडे को भेदने की शक्ति होने पर भी कमल के कोमल पत्तों को भेद नहीं सकता है । भीतर ही अपना दम तोड देता है ।

(4) चक्षुरिन्द्रिय – मनोहर दृश्य को देखकर सुखी होने की इच्छा चक्षुरिन्द्रिय की गुलामी है । दीपक की लौ में आकर्षित पतंगा उसे पाने की इच्छा से उसके पास जाता है । वह आग उसे जलाकर भस्म कर देती है । क्षणिक आकर्षण और प्राप्त हुई आँखों की शक्ति ही उसके मौत का कारण बनती है ।

(5) श्रोत्रेन्द्रिय – मधुर संगीत को सुनकर सुखी होने की इच्छा श्रोत्रेन्द्रिय की गुलामी है । जंगलों में रहकर घास खानेवाले और झरणों के मीठे पानी पीने वाले हिरण, मात्र मधुर संगीत सुनने की चाह में शिकारिओं के द्वारा मारे जाते है ।

इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय की गुलामी के कारण इन प्राणियों की मौते देखी जाती है । ये सभी प्राणी तो मात्र एक इन्द्रिय के गुलाम है, फिर भी मारे जाते है, तो मनुष्य की क्या बात करें । प्रायः सभी मनुष्य इन पांचों इन्द्रियों के गुलाम होते है । हमारा क्या होगा ? यही चिंता जगाने के लिए महोपाध्याय श्री यशोविजयजी **ज्ञानसार** के **इन्द्रियजय** अष्टक में कहते है–

पतङ्गभृङ्गमीनेभ–सारङ्गा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रिय–दोषाच्चेद् दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिः ।।

अर्थात् – एक-एक इन्द्रिय के दोष से पतंगा, भ्रमर, मछली, हाथी और हिरण दुर्दशा को प्राप्त करते है, तो दुष्ट ऐसी इन पांचों के द्वारा होने वाली दुर्दशा की तो क्या बात की जाय ?

चार कषाय

उपमिति भव प्रपंचा में श्री सिद्धर्षि गणी ने चार कषायों को महामोहाराजा के परिवार के रुप में बताया है । महामोहराजा के दो पुत्र है–रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र । चार कषायों में क्रोध और मान-ये दोनों द्वेषगजेन्द्र के पुत्र है तथा माया और लोभ ये दोनों रागकेसरी के पुत्र है । संक्षेप में इन कषायों के समझाना हो तो कह सकते है ।

सुनाकर अपना बनाने की इच्छा क्रोध और मान है, तथा छिपाकर अपना बनाने की इच्छा माया और लोभ है ।

अच्चंकारी भट्टा

''हे देवानुप्रिये ! आज हमारे घर साक्षात् कल्पतरु के समान मुनि भगवंत पधारे है । उन्हें श्रीमुनिपति महात्मा की चिकित्सा के लिए लक्षपाक तैल की आवश्यकता है, इसलिए भोयरे में पडा लक्षपाक तैल का घडा लेकर आ जा ।''

''जी स्वामिनी ! अभी लेकर आती हूँ ।''

दासी भोयरे में जाकर तैल का घडा ले आयी । परंतु जैसे ही वह सेठानी के पास पहुँची, पूरी सावधानी रखने पर भी अचानक वह तैल का घडा धडाम्...करता हुआ नीचे गिर पडा । सवा लाख की कीमत वाला तैल नष्ट हो गया ।

सेठानी ने गुस्सा किये बिना शांति और प्रेम से दासी को आज्ञा दी, **'हे देवानुप्रिये ! कोई बात नहीं ! भोयरे में पडा दूसरा घडा ले आ ।''** दासी सावधान होकर दूसरा घडा लेकर आयी । परंतु पुनः उसी तरह से वह लक्षपाक तैल का दूसरा घडा धडाम् !!! करता हुआ फूट गया । इसी तरह लक्षपाक तैल का तीसरा घडा भी फूट गया । सेठानी ने थोडा भी क्रोध किये बिना, दासी को कहा **''हे देवानुप्रिये ! सम्हलकर चलना । कहीं फिसल न जाय, कोई चोट न लग जाय ।''**

ऐसा कहकर क्षितिप्रतिष्ठित नगर के मंत्री की पत्नी अच्चंकारी भट्टा स्वयं भोयरे में जाकर लक्षपाक तैल का चौथा घडा ले आयी और मुनि भगवंतों के पास आकर यथेच्छ तैल का लाभ देने की विनती की ।

मुनि मुनिपतिजी महात्मा की चिकित्सा के लिए कुछ तैल वहोर कर बोले-हे भद्रे ! हमारे कारण तुम्हारे तीन-तीन लक्षपाक तैल के घडें फूटकर नष्ट हो गए । फिर भी तुमने दासी पर थोडा भी गुस्सा नहीं किया । इस बात का हमें अत्यंत आश्चर्य हो रहा है ।

मुनि भगवंत की बात सुनकर कुछ हँसकर अच्चंकारी भट्टा ने मुनि भगवंत को प्रत्युत्तर दिया–हे पूज्य ! **कषायों का क्या कटु परिणाम होता है वह मैंने इसी जन्म में अनुभव किया है । इसलिए मैंने निर्णय किया है कि किसी भी परिस्थिति में मुझे कषाय नहीं करना है ।**

मुनि भगवंत ने जिज्ञासा बताते हुए प्रश्न किया–**''कौन-सा कटु परिणाम ?''** तब अच्चंकारी भट्टा ने अपनी जीवन कथा प्रारंभ की–

मैं क्षितिप्रतिष्ठित नगर में धन्ना सेठ और भद्रा सेठानी की पुत्री हूँ । आठ भाइओं की एक बहन, मेरा नाम रखा **'भट्टा'** । पिताजी को मुझ पर अत्यंत प्रेम होने से सभी स्वजनों को इकट्ठा करके कहा-**'यह मेरी पुत्री मुझे अतिप्रिय होने से इसे कोई भी डांटे नहीं'** । पिताजी की इस बात को ध्यान में रखते हुए मेरे सभी स्वजन मुझे अच्चंकारी–अच्चंकारी के नाम से बुलाने लगे । इस प्रकार मेरा नाम अच्चंकारी भट्टा पड गया ।

जब मैं युवावस्था में आई, तब मेरे रूप पर मोहित हुए मंत्रीश्वर ने पिता से मेरी मांग की । पिताजी ने मुझपर रहे अतिस्नेह के कारण एक शर्त रखी, **''जो पुरुष मेरी पुत्री के वचन का उल्लंघन नहीं करेगा और उसकी सभी बातें मानेगा, उसे ही मैं अपनी पुत्री दुंगा ।''** मंत्रीश्वर ने मेरे पिताजी की शर्त कबूल की और एक शुभ दिन मंत्रीश्वर के साथ मेरा विवाह हो गया ।

हमारा वैवाहिक जीवन सुंदर रुप से चल रहा था । परंतु राज्यकार्य के कारण कभी कभी मेरे पति थोडी देर से घर आते थे । इस बात से नाराज होकर एक दिन मैंने मंत्रीश्वर से कहा-**''हे प्राणनाथ ! आप राज्य के मंत्रीश्वर हो, तो साथ ही मेरे पतीश्वर हो । अतः यदि मुझसे प्रीति रखनी हो तो प्रतिदिन सूर्यास्त के पहले घर आ जाए । वर्ना...''**

अपने रुबाव को बताते हुए मैंने मंत्रीश्वर को ठीक ठीक सुना दिया । पिताजी की शर्त से बँधे मंत्रीश्वर के पास इस बात के स्वीकार के सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं था । अब प्रतिदिन सूर्यास्त के पहले वे घर आ जाते थे । इससे मेरा रुतबा और बढने लगा ।

एक दिन राजा ने मंत्रीश्वर से पुछ लिया **``हे मंत्रीश्वर ! आप प्रतिदिन इतने जल्दी घर क्यों चले जाते हो ?''** तब मेरे प्रेम के पाश में बंधे मंत्रीश्वर ने सारी सत्य हकीकत बता दी । राजाजी उनकी बात पर हँसने लगे । उन्हें जोरु का गुलाम कहने लगे । उनका सिर शर्म से झुक गया । मरे हुए को और मारते हुए राजाजी ने मंत्रीश्वर को दो प्रहर रुकने की कठोर आज्ञा दी । **'इतो व्याघ्र इतस्तटी'** एक ओर बाघ तो दूसरी और नदी-दोनों ओर से आयी मुसीबत में मंत्रीश्वर को राजाजी आज्ञा स्वीकार करनी पडी ।

इस ओर मैं घर में बैठी मंत्रीश्वर का इंतजार करने लगी । रोज के उनके आने का समय बीत गया । धीरे धीरे सूर्यास्त हो गया । कुछ देर तक तो मुझे चिंता हुई । फिर सूर्यास्त को भी एक प्रहर बीत गया । मंत्रीश्वर अब तक नहीं आये । मेरी चिंता क्रोध में बदलने लगी । मन में अनेक कुविकल्प शुरु हो गए ।

``आज तो उन्हें सबक सीखाकर ही रहूँगी''** ऐसा निर्णय कर मैंने घर का दरवाजा भीतर से बंद कर लिया । मैंने फैसला कर लिया-**``या तो आज इस घर में मैं रहूंगी या वे रहेंगे । क्या समझते है वे अपने आपको ? मंत्रीश्वर होंगे तो राजा के, मेरे तो गुलाम है । पिताजी को वचन देकर मुझे यहाँ लाये थे, आज उन्होंनें वचन भंग किया है । आने दो, उन्हें दिखा देती हूँ ।''

दो प्रहर बीतने पर राजाजी ने मंत्रीश्वर को घर जाने की अनुमति दी । वे घर आये । देखा तो दरवाजा बंद था । उन्होने दरवाजा खटखटाया । मैंने पूछा-कौन है ?

वे बोले-हे प्रिये ! मैं हूँ । दरवाजा खोल ।

मैंने गुस्से में आकर इन्कार कर दिया । उन्होंने अपनी मजबूरी बताई और बोले **``हे प्रिये ! मैं अपनी मर्जी से नहीं रुका था । राजाजी की आज्ञा थी, इसलिए मजबूर था । अगली बार ऐसी गलती नहीं होगी ।''**

गुस्से से मैंने दरवाजा खोला **``आज से राजा के गुलाम बनकर ही रहना'** ऐसा कहकर मैं अपने पिताजी के घर की ओर निकल पडी । क्रोध में अंध बनी मैं क्या कर रही हूँ, मुझे कुछ पता नहीं था । मंत्रीश्वर ने मुझे रोकने का खूब प्रयत्न किया, परंतु मैं नहीं मानी ।

रात्रि के घोर अंधेरे में मैं नि:सहाय, अकेली चल पडी । अब रास्ते में मुझे डर लगने लगा । लेकिन अभिमान से प्रेरित मैं अपने निश्चय पर दृढ रही । घर जाने का विचार भी नहीं किया । आगे चलकर एक चोर की पल्ली ने मुझे पकडा । उन्होंने मेरे गहने और कीमती वस्त्र चुराकर मुझे पल्लीपति को सौप दिया । वह मेरे रुप पर मोहित हो गया । उसने मुझे अपनी बनाना चाहा । मैं अपने सतीत्व पर स्थिर थी ।

मैंने उसे साफ-साफ कह दिया–**'हे दुष्ट ! मेरे प्राण चल जाय, तो भी परवाह नहीं, परंतु अपने शील का भंग स्वप्न में भी नहीं करुंगी ।'** मेरे सतीत्व के जोर के सामने वह शांत हो गया ।

उसने मुझे बब्बरकुल में ले जाकर बेच दिया । वहाँ नीच जाति के एक रंगारे ने मुझे खरीद लिया । उसने भी मेरे शीलखंडन का प्रयत्न किया । परंतु मैं अटल रही ।

अंत में क्रोधित होकर उसने मेरे शरीर में से खून निकालकर बर्तन में भरा । उसमें पैदा हुए कीडों से उसने अपने कपडे रंगने का कार्य चालु किया । प्रतिदिन खून निकालने के कारण मुझे पिलिया हो गया, फिर भी किसी भी हालत में मैंने अपना शीलभंग नहीं किया ।

अपने किये हुए कषाय पर मुझे खूब पश्चात्ताप हुआ । मैं आत्मनिंदा करने लगी । धीरे-धीरे मेरे पापोदय का अंत आया । किसी पुण्योदय से मेरा भाई धनपाल व्यापार के लिए बब्बरकुल में आया । वस्त्र के व्यापार हेतु वह उस रंगारे के घर आया ।

देखते ही उसने मुझे पहिचान लिया । रंगारे को खूब धन देकर मुझे उसकी कैद में से छुडवा दिया । भाई धनपाल मुझे घर ले आया

और मंत्रीश्वर से क्षमा मांगकर मुझे अपने घर भेजा । मैंने अपने परिवार के सामने अपनी आप बीती बताई । मेरे पति ने मुझपर विश्वास कर मेरा स्वीकार किया । मंत्रीश्वर के पैरों में गिरकर मैंने माफी मांगी । उन्होंने मुझे माफकर सभी गृहकार्य की स्वामिनी पद पर स्थापित किया । तब से हे महात्मन् ! मैंने निश्चय कर लिया कि किसी भी स्थिति में मैं गुस्सा नहीं करुंगी । सवा लाख की कीमत के तीन-तीन घडों के नुकसान से भी गुस्से से होने वाला नुकसान ज्यादा है, इसलिए मैंने दासी पर क्रोध नहीं किया ।

उसी समय अदृश्य रुप में रहे देवता प्रत्यक्ष हुए । उस देव ने अच्चंकारी भट्टा को प्रणाम करके कहा– **''मैं सौधर्म देवलोक का देव हूँ ।''** सुधर्म सभा में बैठकर इन्द्रमहाराजा ने प्रशंसा करते हुए कहा- **'वर्तमान में इस पृथ्वीलोक पर अच्चंकारी भट्टा के समान कोई भी क्षमावान नहीं है ।**

इन्द्रमहाराजा की इस बात को सुनकर मैंने ही परीक्षा करने के इरादे से लक्षपाक तैल के तीन घडे फोडे है । परंतु आपके शील धर्म के प्रभाव से आपके हाथों में रहा घडा नहीं फोड पाया । धन्य है आपकी क्षमा को ।'

ऐसा कहकर अपनी दैविक शक्ति से देवता ने फूटे हुए तीनों घडे ठीक कर तैल से भर दिये । **अच्चंकारी भट्टा के शील और क्षमा गुण की प्रशंसा की । अंत में सुवर्णवृष्टि करके देवता देवलोक में चला गया । साधु भगवंत ने भी लक्षपाक तैल के द्वारा मुनिपति महात्मा की सेवा कर उन्हे स्वस्थ किया ।** सभी महात्माओं ने अच्चंकारी भट्टा के गुणों की प्रशंसा की । आजीवन श्राविका धर्म का पालन करती हुई अच्चंकारी भट्टा अंत में समाधि मरण प्राप्त कर देवलोक में गई । वहाँ से मनुष्य जन्म प्राप्त करके मोक्ष में जाएगी ।

विषय और कषाय के इन विपाकों को देखकर हम भी अपनी मुर्खता का त्याग करने का प्रयत्न करे ।

कामवासना अतिबलवान है

यदर्जितं वै वयसाऽखिलेन,
ध्यानं तपो ज्ञानमुखं च सत्यम् ।
क्षणेण सर्वं प्रदहत्यहो ! तत्,
कामो बली प्राप्य छलं यतीनाम् ।।14।। (उपजाति)

शब्दार्थ

यदर्जितं वै=वास्तव में जो कुछ कमाया है,
वयसाऽखिलेन=इस जीवन की पूरी उम्र में,
ध्यानं=मानसिक एकाग्रता रुप ध्यान,
तपो=अनशन आदि बारह प्रकार के तप,
ज्ञानमुखं=तत्त्वबोध रुप ज्ञानादि गुण,
च सत्यम्=और सत्य,
क्षणेण=एक पलक मात्र काल में,
सर्वं=सभी सद्गुण,
प्रदहति=जलाकर भस्म कर देता है,
अहो !=आश्चर्य है,
तत्=वह,
कामः=कामवासना,
बली=बलवान,
प्राप्य=प्राप्त करके,
छलं=बहाने से,
यतीनाम्=साधुओं के ।

गाथार्थ

अहो ! आश्चर्य है कि अपने पूरे जीवन में ध्यान, तप, ज्ञान, सत्य आदि साधुओं के कमाये हुए सभी गुणों को बलवान काम छल करके एक क्षण में ही जला देता है ।

विवेचन

युद्ध के मैदान में शस्त्रों के द्वारा शत्रु पर विजय पाना आसान है, परंतु आत्मा के अंतरंग छह शत्रुओं पर विजय पाना अतिकठिन है । ये छह शत्रु है–काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष । इनमें जिसे सबसे पहला स्थान दिया है, ऐसा काम सबसे ज्यादा शक्तिशाली है । कामवासना की आग इतनी भयंकर है, कि साधु ने अपने दीर्घ कालीन संयम जीवन की साधना में जो कुछ भी कमाया है, वह एक ही क्षण में जलाकर भस्म कर देता है ।

छट्ठ-अट्ठम और मासक्षमण के पारणे मासक्षमण की तपस्या भी कामवासना के क्षणिक आवेग में नष्ट हो जाती है । घंटों तक किये ध्यान और कायोत्सर्ग पर पानी फेर देती है । वर्षों तक स्थिरचित्त रहकर किये ज्ञानाभ्यास को क्षण में भूलाकर मुर्ख बना देती है ।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य और निष्परिग्रह गुणों को भी एक क्षण में सर्वनाश कर देती है । इसीलिए ग्रंथकार श्री इस गाथा के द्वारा कामवासना को अतिबलवान बताकर हमें सावधान कर रहे है ।

चार संज्ञाओं में मैथुन संज्ञा और पांच इन्द्रियों में स्पर्शनेन्द्रिय ये दोनों ही अनादि काल से आत्मा के साथ सभी गति और सभी भवों में जुडे हुए ही है । एकेन्द्रिय गति में वनस्पति आदि के भवों में मैथुन संज्ञा उत्तेजित रही है, तो पंचेन्द्रिय अवस्था में मन के जुडने से कामवासना की शक्ति और बढे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

श्री बृहत्कल्प भाष्य नाम के छेद ग्रंथ में काम के 10 आवेग बताए है–

चिंता य दट्ठुमिच्छइ, दीहं नीससइ तह जरो दाहो ।
भत्तअरोयग मुच्छा, उम्मत्तो न याणई मरणं ।।2258।।

अर्थात्– 1) चिन्ता, 2) देखने की इच्छा, 3) दीर्घ निःश्वास, 4) ज्वर, 5) दाह, 6) भोजन की अरुचि, 7) मूर्च्छा, 8) उन्मत्तता, 9) कुछ भी नहीं जानना, 10) मरण - ये काम के 10 आवेग है ।

1) चिन्ता :– एक बार किसी विजातीय को देखने के बाद उसे पुनः प्राप्त करने की चिन्ता में मन लगा रहता है । बार-बार उसी के विचार आते रहते है ।

2) देखने की इच्छा :– मन का तार जुडने के बाद आंखे सतत उसे देखने के लिए तडपती रहती है । अन्य व्यक्ति में भी उसी के दर्शन होते है ।

3) दीर्घ निःश्वास :– जब तक उसे न देखे तब तक मन में बेचैनी रहती है । श्वासोश्वास दीर्घ और उष्ण हो जाते है ।

4) ज्वर :– काम का वेग बढने पर आगे चलकर शरीर में बुखार चढ जाता है ।

5) दाह :– बुखार के बाद शरीर में दाह की पीडा होती है ।

6) भोजन की अरुचि :– दाह के कारण व्यक्ति को भोजन में अरुचि होती है ।

7) मूर्च्छा :– भोजन की अरुचि से शरीर कमजोर हो जाता है और चक्कर खाकर गिर जाता है ।

8) उन्मत्तता :– ऐसी स्थिति में व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है । बकवास करने लगता है ।

9) कुछ भी नहीं जानना :– शराब के नशे से भी काम का नशा इतना अधिक होता है कि व्यक्ति क्या-कर रहा है, क्या नहीं, उसे कुछ भी ख्याल नहीं रहता ।

10) मरण :– अंत में काम का आवेग इतना बढ जाता है कि व्यक्ति अपने-आप मरण को गले लगाने के लिए तैयार हो जाता है या शरीर क्षीण होने से स्वतः ही अपने प्राण गवाँ देता है ।

ऐसे काम के आवेग से बचने के लिए चित्त में हमेशा वैराग्य का दीप प्रज्वलित रहना जरुरी है, अन्यथा ढोंगी संन्यासी जैसी बूरी हालत होती है–

ढोंगी सन्यासी

❑ एक बार राजा ने किसी संन्यासी को भोजन के लिए आमंत्रण दिया । संन्यासी अपने दो चेलो के साथ राजा के घर भोजन करने के लिए गया । **राजा ने अपनी नवयौवन कन्या के हाथों से संन्यासी को खाना पिरसाया ।** राजकन्या को देखकर संन्यासी मोहित हो गया । जैसे-तैसे भोजन पूरा कर संन्यासी अपने आश्रम में पहुँचा । काम के आवेगों से प्रसार होता हुआ वह बैचेन होकर रहने लगे ।

राजकुमारी को पाने के लिए उसने एक षड्यन्त्र रचा । राजदरबार में जाकर राजा से एक गुप्त मंत्रणा की मांग की । राजा को संन्यासी पर पूरा भरोसा था, इसलिए राजा ने भी अनुमति दे दी ।

मंत्रणा के समय संन्यासी ने राजा से कहा–**''तुम्हारी यह राजकन्या तुम्हारे लिए अशुभ है, अतः जल्द से लकडी की पेटी में डालकर इसे नदी में बहा दो ।''** राजा ने संन्यासी की बात स्वीकार कर ली । अपनी इकलौती राजपुत्री को बडी पेटी में डालकर नदी के प्रवाह में बहा दी ।

इस ओर आश्रम में आकर संन्यासी ने अपने चेलो को आदेश दिया कि–**''योग साधना करने के लिए देवलोक से एक पेटी नदी के मार्ग से आने वाली है, अतः जैसे ही नदी के किनारे पर तुम्हें लकडी की पेटी दिखाई दे, उसे लेकर खोले बिना, आश्रम में रख देना और आश्रम से दूर चले जाना ।**

दैविक साधना दरम्यान यदि तुम्हें कोई भी आवाज सुनाई दे तो घबराना मत, आश्रम के पास भी मत आना ।'' संन्यासी की आज्ञा स्वीकार कर दोनों चेले नदी के किनारे पेटी की राह देखने लगे ।

राजकुमारी के भाग्यवश बीच किनारे पर आये किसी राजा ने वह पेटी देखी । उसे खोला तो पता चला कि भीतर नवयौवन राजकुमारी थी ।

रोती हुई राजकुमारी ने राजा को अपना परिचय दिया और संन्यासी की बात की । राजा सारी बात समझ गया । उसने राजकुमारी

को निकालकर उस पेटी में एक जंगली बंदरी डाल दी और पेटी को बहा दी ।

पानी में तैरती पेटी संन्यासी के चेलो के पास पहुँची । उन्होंने बडी महेनत से पेटी को संन्यासी के पास छोडकर, आश्रम का दरवाजा बाहर से बंद कर दूर चले गए ।

राजकुमारी के मिलन में आतुर बने संन्यासी ने जैसी ही वह पेटी खोली वैसे ही पेटी में से बंदरी ने उछल कर उस पर वार किया । संन्यासी ने बचने के लिए जोर से अपने चेलो को आवाज दी, परंतु संन्यासी ने पहले से ही उन्हें दूर भेज दिया था । तीखे नाखून और दाँतो के घाव कर बंदरी ने उस पर खूब घाव किये । अंत में अपने बूरे कर्मो का फल भुगतकर वही प्राण छोड दिये । हाय कामांधता !

आत्मा पर लगे कामवासना के कुसंस्कार इतने दृढ है कि इनको नष्टकर शुभ संस्कारों से वासित होना, अपने आप से ही युद्ध करने के समान है । इसका सर्व श्रेष्ठ उपाय संयम की साधना है । संयम जीवन का स्वीकार अपने आप से युद्ध की शुभ शुरुवात है ।

जैसे युद्ध में विरोधी पक्ष, एक एक छल को देखकर सेना पर आक्रमण करता है वैसे ही मोहनीय कर्म इन्द्रियसुख के प्रलोभन देकर साधु को भी परेशान करता है । इनसे बचने के लिए ही साधु जीवन में प्रतिदिन पांच प्रहर का स्वाध्याय, 12 प्रकार के बाह्य और अभ्यंतर तप, धर्मध्यान की शुभ साधना, उग्र विहार, केश लोच, अल्प निद्रा, कायोत्सर्ग, वैयावच्च, गोचरी परिभ्रमण आदि के माध्यम से शरीर के ममत्व का त्याग करने की आज्ञा शास्त्रकारों ने की है ।

इन सभी आज्ञाओं में सर्वोपरि आज्ञा है–**विजातीय के संसर्ग का त्याग ।** साधु को साध्वी, स्त्री, नपुंसक और पशु की बस्ती में नहीं रहना । उसमें भी स्त्री संसर्ग कितना भयावह है यह दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन में बताया है–

जहा कुक्कुड पोअस्स, निच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी विग्गहो भयं ।।54।।

अर्थात्–जैसे मुर्गी के बच्चे को नित्य बिल्ली से भय रहता है, वैसे ब्रह्मचारी मुनि को स्त्री शरीर से भय रहता है ।

मात्र जीवित स्त्री ही नहीं लेकिन स्त्री के मृत शरीर से भी ब्रह्मचारी साधु को भय होता है । **क्योंकि स्त्री शरीर के प्रत्येक अंग मनमोहक है । कदाचित् उसके सामने नजर चली जाय, तो तपते हुए सूर्य को देखने पर जैसे नजर फेर लेते है वैसे ही नजर घुमा लेनी चाहिए ।**

जहाँ भी संयम जीवन में पतन हुआ है वहाँ अधिकांश इस नियम के उल्लंघन का ही परिणाम है । किसी भी स्थिति में कामवासना पर विश्वास करने जैसा नहीं है–इस बात को बृहत् कल्प भाष्य में 2100 वीं गाथा के पूर्वार्ध में बताया है–

न वओ इत्थ पमाणं, न तवस्सित्तं सुयं न परियाओ ।

अर्थात्– कामवासना की उत्तेजना में न बडी उम्र प्रमाण है, न दीर्घ तपस्या प्रमाण है, न श्रुतज्ञान प्रमाण है, न ही दीर्घ कालीन संयम पर्याय प्रमाण है । इन सभी को नष्ट करने की ताकत कामवासना की एक क्षण में है ।

जैसे युद्धभूमि में सैनिक हाथों में हथियार और शरीर पर कवच पहनकर सुसज्ज होकर जाता है, फिर भी शत्रु सेना के छल से मारा जाता है । अथवा औषधि पास में होने पर भी गारुडिक कभी कभी असावधानी के कारण सांप से डसा जाता है और मारा जाता है । वैसे ही बडी उम्र, बडी तपश्चर्या, ज्ञान-ध्यान और बडा चारित्र पर्याय ये सभी काम के आवेग के आगे हार जाते है । शास्त्र में अनेक दृष्टांत है जो अच्छे-अच्छे साधक के पतन को बताकर हमें सावधान होने की प्रेरणा देते है–

1) कुलवालक मुनि

उन्होंने अपनी तप साधना के बल से क्षेत्र देवता को भी वश कर लिया था । एक बार जब नदी में बाढ आयी तब उस क्षेत्र देवता ने नदी के किनारे को मोड दिया । इतनी कठोर साधना होने पर भी मागधिका वेश्या के परवश होकर संयम से पतित हो गए ।

2) सिंहगुफावासी मुनि

अपने चातुर्मासिक तप एवं कायोत्सर्ग से जिसने खुंखार सिंह को भी शांत-प्रशांत कर दिया था, परंतु कोशा वेश्या की मात्र चित्रशाला को देखकर वे कामातुर हो गए थे । पहले परिचय में ही उन्होंने कोशा वेश्या के साथ शारीरिक सम्बन्ध की प्रार्थना कर ली । उसे तृप्त करने के लिए वर्षाकाल में ही नेपाल जाकर रत्नकम्बल ले आये थे ।

3) स्थनेमि

22 वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान के भाई और उसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले होने पर भी, जब गुफा में राजुल ने प्रवेश कर वर्षा से भीगे अपने वस्त्रों को सुकाये, तब उसे देखकर स्थनेमि भी कामातुर हो गए । सारी संयम साधना को नष्ट करने के लिए तैयार हो गए थे ।

स्थनेमि और राजुल का दृष्टांत तो इतना प्रेरणादायी है कि साधु-साध्वीजी को प्रतिदिन पच्चक्खाण पारने के बाद 17 गाथा के माध्यम से अवश्य स्मरण करना होता है ।

सारे घर में आग लगी हो तब हाथ में मात्र एक बाल्टी जितना पानी हो तो वह आग शांत नहीं हो सकती । उसे शांत करने के लिए तो firebrigade को ही बुलाना पडता है । **वैसे ही अल्प सत्व की साधना से काम को जीतना कठिन है, उसे जीतने के लिए योग की विशिष्ट साधना आवश्यक होती है ।** शास्त्रों में अनेक दृष्टांत ऐसे भी है जिन्होने काम को परास्त कर आत्म शक्ति से विजय प्राप्त की है ।

1) स्थूलभद्र महामुनि

चार महिने षड्रस भोजन, एकांतवास, वर्षाऋतु और चिरपरिचित कोशा वेश्या के आगे भी वे हारे नहीं । **चातुर्मास के अंत तक तो उन्होंने कोशा वेश्या को भी श्राविका बना दी ।** 84 चोबीसी तक अमर हो गए ।

2) विजयसेठ

विवाह के पहले उन्होंने मात्र कृष्ण पक्ष के ब्रह्मचर्य पालन का व्रत लिया था, **परंतु पत्नी विजया के शुक्ल पक्ष के ब्रह्मचर्य पालन के व्रत को जानकर दोनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया था ।** उनके निर्मल ब्रह्मचर्य की प्रशंसा विमल केवली ने की थी ।

3) तीन मुनिवर

पू.आ.श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी, पू.आ.श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी एवं पू. श्री मलयगिरिजी इन तीनों महापुरुषों ने इस पंचम काल में शासन प्रभावना हेतु कैसी कठोर साधना की थी ! **साधना की शर्त थी–श्रीमाली सेठ की पद्मिनी स्त्री निर्वस्त्र होकर खडी रहे, उसके पास तलवार-धारी उसका पति खडा रहे, साधना समय तीनों में से किसी एक की भी आँख में काम विकार का अंश दिखाई दे तो तुरंत उसका सिर धड से अलग कर दे ।**

11 दिन निरंतर साधना में रहकर तीनों ने साधना संपन्न कर देवता को प्रत्यक्ष किया । साधना के फलस्वरुप **पू.आ.श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी** की 52 वीर वशवर्ती हुए । **पू.आ. श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी** को राज-प्रतिबोधक शक्ति प्राप्त हुई, जिससे उन्होने सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल महाराजा को प्रतिबोध दिया । एवं **पू.श्री मलयगिरिजी** को शास्त्रों की वृत्ति रचने की तीव्र मेधा प्राप्त हुई ।

सारांश :– काम बलवान है, परंतु आत्मा अधिक बलवान है, अतः काम को परास्त करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए ।

आत्मा का भयंकर शत्रु, मोह

बलादसौ मोहरिपुर्जनानां,
ज्ञानं विवेकं च निराकरोति ।
मोहाऽभिभूतं हि जगद्विनष्टं,
तत्त्वाऽवबोधादपयाति मोहः ॥15॥ (उपजाति)

शब्दार्थ

बलात्=जबरदस्ती से,
असौ=यह,
मोहरिपुः=मोह नाम का आत्मिक शत्रु,
जनानां=चारों गति के जीवों के,
ज्ञानं=सम्यग् बोध,
विवेकं=भेदज्ञान को,
च=और,
निराकरोति=नाश कर देता है,
मोहाऽभिभूतं=मोह से हारा हुआ,
हि=वास्तव में,
जगत्=तीन लोक,
विनष्टं=नाश पाया है,
तत्त्वाऽवबोधात्=तत्त्वज्ञान से,
अपयाति=दूर करता है,
मोहः=सबसे बलवान कर्म ।

गाथार्थ

आत्मा के परम शत्रु इस मोह ने जबरदस्ती से आत्मा के सम्यग् बोध और भेदज्ञान को नष्ट कर दिया है । वास्तव में मोह से हारा हुआ यह सारा जगत् नाश पाया है । आत्मा तत्त्वज्ञान से मोह को दूर कर देती है ।

विवेचन

युद्ध के मैदान में उतरने से पहले शत्रु और उसकी पूरी शक्ति का ज्ञान होना जरुरी है । **यदि इतना ज्ञान न हो तो विराट सैन्य सहित बलवान राजा को भी हार खानी पडती है ।** कर्मों के साथ छेडे युद्ध में आत्मा की कहीं हार न हो जाय, इसलिए ग्रंथकारश्री एक-एक गाथा में आत्मा के शत्रुओं का परिचय करा रहे है ।

काम शत्रु का परिचय कराकर अब वे हमें सभी शत्रुओं के नायक, आत्मा के परम शत्रु **'मोह'** का परिचय दे रहे है । यह शत्रु इतना शक्तिशाली और चालाक है कि वर्षों से अर्जन किये सम्यग् बोध और उससे जनित विवेक को एक क्षण में ही नष्ट कर देता है । **तीनों लोक के सभी जीव इसके परवश है ।** मात्र अज्ञानी ही नहीं – ज्ञानी भी इसके सामने घुटना टेककर हार चुके है । अतः हमें इससे युद्ध करने से पहले अपनी पूरी तैयारी करनी होगी, अन्यथा अपनी एक भूल से यह हमारे अस्तित्व को नष्ट कर देगा ।

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे ज्यादा शक्तिशाली है । इसका मात्र एक ही काम है-आत्मा को भ्रमित करना । जो जैसा है वैसा देखने नहीं देना और विपरीत दिखाकर आत्मा के अनंत गुणों को लूंटने का काम इस कर्म ने किया है । शास्त्रकारों ने कर्मग्रंथादि में मोहनीय कर्म को मदिरा पान की उपमा दी है ।

मदिरा पान से होने वाले अनर्थ तो इस जगत् के लिए प्रत्यक्ष ही है । सूरि पुरंदर **श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी म.** ने **अष्टक प्रकरण** में एक मार्मिक उदाहरण दिया है–

मोह से पतन

❑ किसी ऋषि ने अपने जीवन में बड़ा तप किया । उसकी तप साधना को देखकर इन्द्र महाराजा भी भयभीत हो गए । **'यदि इस ऋषि की यह तप साधना निरंतर चलती रही तो अगले जन्म में यह मुझसे अधिक**

शक्तिशाली इन्द्र बन जाएगा'–ऐसा भय इन्द्र महाराजा को सताने लगा । इन्द्र महाराजा ने उसे चलित करने के लिए अपनी देवांगनाओं को भेजा ।

देवांगनाओ ने ऋषि के पास जाकर उसकी अपूर्व भक्ति की । विनय-नम्रता-मधुर आलाप आदि करके ऋषि को वश कर दिया । ऋषि ने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान मांगने को कहा । देवांगनाएँ तो कैसे भी करके उसे पतित ही करना चाहती थी, इसलिए उन्होंने उसे तीन विकल्प दिये **1) आप मदिरापान करो, 2) आप जीव हिंसा करो, 3) अथवा आप स्वेच्छापूर्वक मैथून का सेवन करो ।**

तीन विकल्पों में से उसने अपनी मतिकल्पनानुसार आटे और फलों से बना हुई मदिरा को जानकर उसे निर्दोष माना । शेष दोनों विकल्पों को ठुकराकर उसने मदिरा पान करना स्वीकार किया । देवांगनाओं ने उसे खूब मदिरा पिलाई । उसे तीव्र नशा चढा । नशे में वह अपना होश खो बैठा । **वर्षों की तपश्चर्या के कारण उसे जोर से भूख लगी । अपनी भूख को शांत करने के लिए उसने पशु की हत्या कर मांसाहार किया । मांसाहार के भोजन से उसकी कामाग्नि भडक उठी ।** सामने खडी सभी देवांगनाओं के साथ स्वेच्छापूर्वक मैथुन सेवन भी कर लिया ।

मदिरा पान के एक विकल्प का स्वीकार कर ऋषि ने तीनों विकल्पों का सेवन कर दिया । **दीर्घकाल से किये तप-त्याग और संन्यास से जो पुण्य और शक्ति अर्जन की थी, वह सब कुछ हारकर दुर्गति के गर्त में चला गया । कहाँ इन्द्र की पदवी और कहाँ दुर्गति में पतन !!!**

मदिरा से भी मोह की मदिरा अति भयंकर है । मदिरा से होने वाला नुकसान अल्पकालीन है, परंतु मोह की मदिरा से हो रहा नुकसान अनादि काल से चलता ही आ रहा है ।

ऐसी कौन-सी विडंबना है जो मोह के कारण अपनी आत्मा को सहनी नहीं पडी हो ? ठंडी-गर्मी, भूख-प्यास, बलात्कार, अत्याचर आदि सभी मरणांत कष्टों को, मोह के वश होकर हमने अनंती बार सहन किये है ।

'ज्ञानसार' में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने मोह के दो मंत्रों का निर्देश किया है-**'अहं'** और **'मम'**–मैं और मेरा–ये दोनों मोह के ऐसे

परम मंत्र है, जिसके कारण उसने पूरे विश्व पर अपना मजबूत वर्चस्व बनाए रखा है । जब तक **''मैं कुछ हूँ''** और **''मेरे पास कुछ है''** ये दो मंत्र रटे जाएंगे, तब तक अन्य कोई भी शक्ति इसे हरा नहीं सकेगी ।

ये दोनों मंत्र ऐसे है, कि इसका जाप करना नहीं पडता-स्वतः भीतर चलता रहता है ।

भूतकाल में हमारी आत्मा ने धर्म का आचरण नहीं किया है, ऐसा नहीं है । अनंती बार चारित्र लिया, अनंती बार श्रावक जीवन का पालन भी किया । सभी प्रकार के धर्मानुष्ठान किये है, परंतु जिनाज्ञा से नहीं, मोह की आज्ञा से किये है ।

- **मान-पान के लिए बहुत सा धन दान में भी दिया है ।**
- प्रभावना या प्रशंसा की लालच में कठोर तप भी किया है ।
- **शारीरिक स्वस्थता पाने के लिए शील का पालन भी किया है ।**
- लौकिक सिद्धि और चमत्कार बताने के लिए घंटों तक जाप भी किया है ।
- **रिद्धि-सिद्धि और समृद्धि पाने के लिए समस्त संसार का त्याग भी किया है ।**
- अपना वर्चस्व बनाने के लिए प्रवचन, दान और विशाल साहित्य सर्जन भी किया है ।

भूतकाल में क्या नहीं किया है ? यह सवाल है । फिर भी मोह की अधीनता के कारण आत्मा का मोक्ष नहीं हुआ । **यही सिद्ध करता है कि मोह कितना अधिक शक्तिशाली है ।**

इतिहास के आइने में देखे तो ऐसे कई दृष्टांत देखने को मिलेंगे, जिनके ज्ञान और विवेक पर आवरण कर इस मोह शत्रु ने भव-भ्रमण के साथ अनेक यतनाएँ पहुंचाई है ।

(1) कुवलयाचार्य

अनंत काल पहले किसी एक अवसर्पिणी काल की बात है । तब इस अवसर्पिणी की तरह अनेक आश्चर्य होने से उसे भी हुण्डा अवसर्पिणी का

नाम दिया गया था । उस काल में **कुवलय** नाम के एक बडे आचार्य हुए थे । वे आचार चुस्त, विशिष्टज्ञानी एवं चारित्र संपन्न थे । उस समय चैत्यवासिओं का खूब जोर था । शिथिल बने साधु मंदिरों का संचालन करते एवं श्रावकों को नए-नए मंदिर निर्माण करने की प्रेरणा देते थे ।

एक बार कुवलयाचार्य ऐसे ही स्थान में पधारे । उनके प्रवचनों से लोग खूब प्रभावित हुए । उनका प्रभाव देखकर चैत्यवासी साधुओं ने उन्हें कहा–**''आप यहां रहकर मंदिर निर्माण की प्रेरणा करे तो आपके प्रभाव से खूब मंदिरों का निर्माण हो सकता है ।''**

तब उनकी शिथिलता को प्रोत्साहन न मिले इस उद्देश्य से इन्कार करते हुए उन्होंने कहा-**''यह सावद्य कार्य है । अतः मैं यह प्रवृत्ति नहीं करुंगा ।''** ऐसा कहने से उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया । (वास्तव में साधु को मात्र उपदेश ही देना है, परंतु **''तुम यहाँ मंदिर बनवाओं''** ऐसी प्रेरणा देना सावद्य प्रवृत्ति होने से निषिद्ध है ।)

उनके उत्तर को सुनकर चैत्यवासी साधु नाराज हो गए । बहुत सावद्य-सावद्य करते है-इसलिए उनका नाम **सावद्याचार्य** रख दिया । कुवलयाचार्य वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गए ।

कुछ समय बीतने के बाद चैत्यवासी साधुओं में परस्पर किसी विषय में मतभेद हुआ । उसका समाधान करने हेतु उन्होंने कुवलयाचार्य को आमंत्रण दिया । उन्होंने आमंत्रण का स्वीकार किया । उग्र विहार कर वहाँ पधारे । नगरजनों ने उनका भव्य स्वागत किया ।

इसी बीच उनके आगमन पर प्रसन्न हुई एक साध्वी ने पास जाकर उन्हें चरण स्पर्श करते हुए वंदन किया । **किसी कारण वश कुवलयाचार्य पीछे हट न सके । साध्वी के चरण स्पर्श करते समय सभी चैत्यवासी मुनिओं ने उन्हें देख लिया ।**

मतभेद विषय पर चर्चा चालु हुई । तब महानिशीथ सूत्र की वाचना में स्त्री स्पर्श सम्बन्धी विषय आया । कुवलयाचार्य विचार करने लगे **''इस पाठ का सही अर्थ बताऊं या नहीं ? पहले से ही इन्होंने मेरा नाम सावद्याचार्य रखा है । यदि इस पाठ का सही अर्थ बता दूँ तो ये मुझे**

साधु के रुप में नहीं मानेंगे और पता नहीं क्या क्या कहेंगे ? परंतु यदि नहीं बताऊंगा तो प्रभु वचन के अपलाप का दोष लगेगा । नहीं-नहीं, मेरा जो कुछ भी हो, मैं प्रभु वचन का अपलाप तो नहीं करुंगा ।'' ऐसा निश्चय कर उन्होंने यथावत् अर्थ बताया । चैत्यवासी साधुओं ने उनपर आरोप लगाए और शोर मचाना चालु किया ।

तब कुवलयाचार्य ने कहा–**'तुम लोग वाचना के लिए अयोग्य हो । वास्तव में जितने उत्सर्ग है, उतने अपवाद भी है ।'** ऐसा कहकर उन्होंने अपना बचाव करते हुए उत्सूत्र प्ररूपणा की ।

इस एक वचन से उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म खो दिया और अपना अनंत संसार बढा दिया । (शास्त्र में ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में कोई अपवाद नहीं है ।)

इस प्रकार मोह ने ऊपर उठी आत्मा को पतन के गर्त में गिरा दिया । उनके ज्ञान और विवेक को नष्ट कर अनंत काल का भव भ्रमण बढा दिया ।

(2) ब्राह्मी-सुन्दरी

पूर्व भव में दोनों पीठ-महापीठ नाम के ज्ञानी मुनिवर थे । परंतु जब गुरु भगवंत ने वैयावच्च करने वाले बाहु-सुबाहु मुनिवरों की प्रशंसा की तब वे दोनों उसे सहन न कर सके ।

``गुरु भगवंत भी पक्षपात करते है । हम ज्ञानाभ्यास करते है, वह नहीं दिखता और ये दोनों सबका काम-काज करते है, तो सबको प्रिय लगते है । दुनिया में काम प्रिय है–ज्ञान नहीं ।'' इस प्रकार मोह ने उन्हें ऐसा भ्रमित किया कि मानसिक ईर्ष्या के कारण अंतिम भव में दोनों को स्त्री के रुप में जन्म लेना पडा ।

(3) भगवान महावीर

मरीचि के भव में वे श्री ऋषभदेव परमात्मा के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों के ज्ञाता बने थे । परंतु मोहराजा ने पहले शारीरिक अशाता से अरति कराकर त्रिदण्डी वेष की रचना कराई और फिर शिष्य की लालसा से **``यहाँ भी धर्म है और वहाँ भी धर्म है ।''** ऐसी उत्सूत्र प्ररुपणा कराकर एक कोडा-कोडी सागरोपम काल का संसार परिभ्रमण बढा दिया ।

उसके बाद भी सोलवें वसुभूति के भव में बल प्राप्ति का नियाणा कराकर अठारहवें भव में वासुदेव की पदवी दिलाई । **वहाँ घोर पापाचरण कराकर मोह ने उन्हें सातवीं नरक में धकेल दिया ।**

(4) जमाली

वे भगवान महावीर के सांसारिक भाणेज और जमाई थे । **दीक्षा स्वीकार करने के बाद भगवान के शिष्य एवं 500 साधुओं के गुरु हुए । वे भी ग्यारह अंगों के ज्ञाता महाज्ञानी थे ।**

एक बार शारीरिक अशाता के कारण उन्होंने अपने शिष्यों को संथारा बिछाने की आज्ञा की । संथारा बिछाया जा रहा था और शिष्यों ने आकर कहा, **'संथारा बिछा दिया है ।'** उन्होंने आकर देखा तो काम अधुरा था ।

शिष्यों से पूछा तो उन्होंने कहा-**'भगवान का वचन हैं, 'जो कार्य पूर्णाहुंति की ओर हो, वह पूरा ही कहा जाता है ।'** परंतु मोह राजा ने उन्हें इस बात का स्वीकार करने नहीं दिया । इतना भ्रमित किया के वे भगवान के विरोधी हो गए । 15 भवों का संसार परिभ्रमण बढा दिया ।

(5) स्कंदिलाचार्य

यंत्र में पिसे जाते हुए अपने 500 शिष्यों को निर्यामणा कराकर सभी को केवलज्ञान प्राप्त कराया और मोक्ष में भेज दिया । परंतु वे स्वयं मोह के आगे हार गए । अपनी एक इच्छा की अपूर्ति के कारण सारे गांव को जलाकर भस्म सात् करने का नियाणा कर बैठे ।

ऐसे अनेक दृष्टांत मोह की शक्ति का परिचय देते है । अतः मोह पर विजय पाने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

यदि **'अहं'** और **'मम'** मोह के मंत्र है तो इनको जीतने के लिए, उनकी विनाशक शक्ति पैदा करने के लिए **'नमो अरिहंताणं'** पद का जाप करना चाहिए । इस पद के जाप से आत्मा में नम्रता और निःस्पृहता गुण पैदा होंगे, जो अन्य गुणों को प्राप्त कराकर आत्मा को विकास मार्ग पर आगे बढाएगा !

दिशा बदलने की जरुरत है

सर्वत्र सर्वस्य सदा प्रवृत्तिः,
दुःखस्य नाशाय सुखस्य हेतोः ।
तथापि दुःखं न विनाशमेति,
सुखं न कस्यापि भजेत् स्थिरत्वम् ।।16।। (उपजाति)

शब्दार्थ

सर्वत्र=सभी जगह,
सर्वस्य=चारों गति के सभी जीवों की,
सदा=हमेशा,
प्रवृत्तिः=मन-वचन और काया की क्रिया,
दुःखस्य=आधि-व्याधि और उपाधि के,
नाशाय=अंत के लिए,
सुखस्य हेतोः=सुख पाने के लिए,
तथापि=फिर भी,
दुःखं न विनाशमेति=दुःख का अंत नहीं होता,
सुखं न कस्यापि भजेत्=किसी का भी सुख नहीं रहता है,
स्थिरत्वम्=स्थिर ।

गाथार्थ

सभी जगह, चारों गति के सभी जीवों की दुःख दूर करने और सुख प्राप्त करने के लिए हमेशा एक ही प्रवृत्ति होती है, फिर भी किसी का दुःख दूर नहीं होता और सुख स्थिर नहीं होता है ।

विवेचन

चौदह राजलोक स्वरुप इस विराट् विश्व में अनंतानंत जीव है । सभी अपने अपने कर्मों के अधीन है । ये सभी जीव भिन्न-भिन्न गतियों एवं भिन्न-भिन्न जातियों में रहे हुए है ।

जाति की अपेक्षा से कोई एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय है तो कोई पंचेन्द्रिय है । पंचेन्द्रिय में भी कोई देवता है, कोई नारक है, कोई पशु है, तो कोई मनुष्य है ।

मनुष्य भी कोई राजा है, तो कोई रंक। कोई शेठ है, तो कोई नौकर । कोई धनवान है, तो कोई धनहीन । कोई बडी कायावाला है तो छोटी काया वाला । इन सभी जीवों की विविधता होने पर भी एकता है-**''सभी जीव अपना दुःख दूर करना चाहते है और सुखी बनना चाहते हैं ।''**

जीवन की सभी प्रवृत्तियां इसी एक उद्देश्य से होती है । फिर भी सबसे बडा आश्चर्य है कि दुःख अपना पिछा नहीं छोड़ता और सुख हाथताली देकर दूर-सुदूर चला जाता है ।

सुख-दुःख जीवन के अभिन्न अंग है । इन्हे अनेक उपमाएँ दी जाती है । जैसे एक सिक्के के दो पहेलु होते है, वैसे सुख-दुःख भी जीवन के दो पहेलु है । जैसे पहिये के दो विभाग है । चलते संयम नीचे का भाग ऊपर आता है और ऊपर का भाग नीचे जाता है । वैसे ही जीवन में सुख-दुःख का सिल्सिला चलता रहता है ।

जैसे तराजु के दो पडलों में से जिस पडले में वजन ज्यादा वह भारी, वैसे ही जीवन की जिस क्षण में पुण्य का उदय वे क्षणे भारी है । पुण्य-पाप का उदय परिवर्तनशील है । इसलिए जीवन में सुख-दुःख भी परिवर्तित होते रहते है ।

सुख के दिन ज्यादा हो तो भी जल्दी पूरे हो जाते है और दुःख की राते थोडी भी हो तो भी बडी लम्बी लगती है ।

भूतकाल में हमारी आत्मा ने पुण्य थोडा किया है और पाप ज्यादा किया है । इसके फल स्वरुप जीवन में सुख की प्राप्ति अल्प काल के लिए होती है, जबकि दु:ख जीवन भर रहता है । फिर भी प्रत्येक जीव सुख पाने के लिए दिन-रात सतत प्रयत्न करता रहता है ।

प्रशमरति ग्रंथ में वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी महाराज कहते है कि **''दु:ख का द्वेषी और सुख की लालसा वाला जीव मोह से अंधा हो जाने से गुण या दोष को नहीं देखता है । सुख पाने के लिए वह जो जो चेष्टाएँ करता है, उससे दु:ख ही प्राप्त करता है ।''**

चरम केवली, बाल ब्रह्मचारी एवं तीव्र वैरागी श्री जम्बूकुमार ने अपनी देवांगना जैसी आठ पत्नियों को प्रतिबोध देते समय एक कौए का दृष्टांत दिया था, वह इसी बात को सिद्ध करता है–

कौए की मौत

किसी नदी के किनारे पर एक हाथी का शव पडा था । उस शव को देखकर बहुत से कौए उसकी मिजवानी उडा रहे थे । काउ-काउ आवाज करते हुए सभी कौए अपने जातिबंधुओं को बुला रहे थे । दूर से उडता एक कौआ वहा आया । **उसे उपर का मांस नीरस लग रहा था । उसने हाथी के भीतर रहा मांस खाना चाहा । चारों ओर से उसने निरीक्षण किया ।** फिर हाथी के गुदा स्थान को खुला देख उसने भीतर प्रवेश कर दिया ।

वर्षा ऋतु के कारण उस समय जोर से बारीश शुरु हुई । कौए को प्रारम्भ में तो इष्ट भोजन की प्राप्ति में थोडे सुख का अनुभव हुआ, परंतु भीतर की गंदगी मल-मूत्र आदि अशुचि से थोडी देर बाद ही उद्विग्न हो गया ।

अब वह बाहर निकलना चाहता था, परंतु वर्षा के कारण जिस मार्ग से वह अंदर घुसा था, वह बंद हो गया । अंदर ही अंदर उसका दम घुटने लगा । थोडे से सुख पाने के अरमानों में उसे अधिकाधिक दु:ख सहना पडा ।

जोर की वर्षा के कारण नदी में बाढ आ गई । चारों ओर पानी-पानी हो गया । पानी के प्रवाह में हाथी का शव तैरने लगा । तैरते-तैरते वह पहले नदी और फिर समुद्र में चला गया । भीतर रहे कौए की हालत और बिगड गई ।

थोडी देर बाद वर्षा बंद हुई । **कडक धूप निकल आया । आशा की किरणों के साथ कौए को भीतर थोडे प्रकाश का अनुभव हुआ ।** हाथी के शव से बाहर निकलने का रास्ता दिखा । जैसे-तैसे वह उसमें से बाहर आया । शव की सतह पर बैठकर उसने कुछ चैन की सांस ली ।

कुछ स्वस्थ होकर उसने अपने पंख खोले । वह उडकर किनारे पर जाना चाहता था, लेकिन दूर-सुदूर सिर्फ पानी था । कहीं कोई किनारा या टापू नहीं था ।

कुछ देर आकाश में उडकर चारों ओर उसने ढुंढा, परंतु सारी मेहनत निष्फल । उड-उड कर वापस उसी हाथी के शव पर बैठता है । हाथी के शव को भी पानी में रही मछलियाँ खाने लगी । अंत में उसका आश्रय समाप्त हो गया । वह भी बेमौत-करुण मौत मर गया ।

संसार में हमारी हालत इस कौए जैसी है । संसार के सुख की चाह में हम भी कौए की तरह अनेक प्रयत्न करते है । सुख को पाने के लिए मुश्किल से मुश्किल परिस्थितिओं का सामना भी करते है ।

जैसे कौए को बाहरी मांस से भी भीतर के मांस में सुख की कल्पना हुई थी, वैसे ही सभी संसारी जीवों को पांच इन्द्रियों के विषय भोग में सुख की कल्पना होती है । **फिर व्यक्ति उस सुख को पाने के लिए भरसक प्रयत्न करता है ।** लेकिन एक बार संसार की जिम्मेदारी सिर पर आ जाती है, वह बंधन में फंस जाता है...जैसे कौआ हाथी के शव में फँसा था ।

व्यापार और परिवार ये दोनों संसारी जीव के गले में बँधे हुए घंट है । इन दोनों की अत्यधिक जिम्मेदारी के कारण व्यक्ति का जीवन जीना भी मुश्किल हो जाता है । सुख मात्र स्वप्न और आशा के स्तर पर ही रह जाता है । दु:ख-दर्द, आधि-व्याधि और उपाधि में आँखें मात्र

आँसु ही बहाती है । व्यक्ति न तो अपने दु:ख को किसी से कह सकता है और न सह सकता है । अंदर ही अंदर उसका दम घुटने लगता है ।

पानी के प्रवाह की तरह जीवन का प्रवाह चलता है । बढती उम्र के साथ व्यापार और परिवार की सारी जिम्मेदारी पूर्ण होने पर व्यक्ति निवृत्त होता है । परंतु निवृत्ति भी कहां सुखदायी है ?

निवृत्त व्यक्ति अपने ही घर-परिवार के लोगों के लिए बोझ रुप लगता है । घर में रहे तो बहुएँ कहती है **''पिताजी दुकान पर जाय तो अच्छा । इनके घर रहने पर हमे स्वतंत्रता नहीं मिलती ।''** दुकान पर जाय तो बेटे कहते है **''पिताजी घर पर ही रहे तो अच्छा ।''** अब पूराने तरिकों से व्यापार नहीं हो सकता । यदि इनके अनुसार व्यापार किया जाय, तो घर का खर्च भी पूरा नहीं हो सकता । पुराने विचार वाले मानकर दुकान से भी उन्हें बहिष्कार किया जाता है ।

धोबी के कुत्ते की तरह व्यक्ति जहां-तहां भटकता रहता है । उसमें भी यदि स्वभाव तेज हो और छोटी छोटी बातों में टक-टक करने की आदत हो, तब तो जीवन नरक से कम नहीं रहता ।

कुछ समय तक तो लोग उम्र का लिहाज करते है, लेकिन आगे चलने पर छोटा-बडा हर कोई सामने जवाब देने लगता है । अंत में दु:खी-दु:खी रहकर व्यक्ति उस कौए की तरह अपने प्राणों को छोड देता है । जिस परिवार और व्यापार के लिए जीवन भर गधा-मजूरी की, वही परिवारजन एक-दो दिन शोक मनाकर उसे भूल जाते है ।

यही संसार है । यही इस संसार का कडवा सत्य है । कम-ज्यादा अंश में यह सच्चाई प्राय: सभी जानते है । **कभी कभी मरण आदि की घटनाएँ देखकर कुछ जागृति भी आती है, लेकिन पुन: व्यापार और परिवार की जिम्मेदारी बताते हुए मोहराजा आकर श्मशानी वैराग्य के रंग को साफ कर देता है । अधिकांश जीव इसी तरह अपना जीवन व्यर्थ गवां देते है ।**

कदाचित् किसी के जीवन में हमेशा सुख हो, तो भी वह कितने दिन का ? अमर कहे जाने वाले देवताओं का जीवन भी एक दिन अवश्य पूरा हो जाता है । पल्योपम और सागरोपम के दीर्घ आयुष्य का भी एक दिन अंत आ जाता है । **यावत् 33 सागरोपम के दीर्घ कालीन आयुष्य वाले सर्वार्थ सिद्ध विमान के देवता, जो इतना बडा आयुष्य मात्र अपनी सुखशय्या पर विश्राम करते हुए प्रसार करते है, वे भी आयुष्य पूर्ण होने पर अशुचि से भरी स्त्री की कुक्षी में गर्भावास की पीडा को सहन करते है ।** नौ महिनों तक उन्हें भी उल्टे मस्तक रहना पडता है एवं जन्म समय असह्य वेदना सहन करनी पडती है ।

जब इतने अधिक पुण्यशाली देवों की भी यह स्थिति है, तो अपने जैसे हीन पुण्यवालों के सुख की क्या बात करनी ?

प्रश्न :– तो क्या प्राप्त हुआ सुख छोड देना चाहिए ?

उत्तर :– संसार का सारा सुख जलते हुए अंगारे की तरह है । जैसे छोटे बालक को जलता हुआ अंगारा आकर्षक लगता है । वह उसे पकडने का प्रयत्न करता है, परंतु जैसे ही वह अंगारे को पकडता है, उसका हाथ जलने लगता है । उसे जलते हुए अंगारे को छोड़ने में एक क्षण भी नहीं लगता है, वैसे ही यह संसार का सारा सुख आकर्षक होने पर भी छोड़ने जैसा ही है ।

किसी धनवान और सुखी व्यक्ति को देखकर एक बार तो मन में उस सुख को पाने का आकर्षण पैदा हो जाता है । **यही बताता है कि हमारे मन में अब भी सुख के साधनों को पाने की तीव्र तमन्ना रही है । हमें उसका सुख दिखता है, परंतु उसे पाने के पीछे होने वाले पाप नहीं दिखते है । अथवा उस सुख के आस-पास रहे दुःख नहीं दिखते हैं । जरा-सी नजर बदलनी होगी ।**

भौतिक रुप से कोई व्यक्ति चाहे कितना भी सुखी हो, उसके सुख में कुछ भी आश्चर्य करने जैसा नहीं है । छह खंड के साम्राज्य का स्वामी भी

यदि अपने सुख का त्याग न करे तो मरकर सातवीं नरक में ही चला जाता है, तो अपना सुख तो है ही क्या जिसे छोडने के लिए कुछ विचार करना पडें ।

आयुष्य ही अल्पता, शरीर की निर्बलता और पदार्थों की अनित्यता के कारण सुख के साधनों को जितना भी संग्रहित करना चाहे, वह साथ छोडने वाला ही है ।

आत्मा और पुद्गल दोनों के स्वभाव विपरीत हैं । आत्मा शाश्वत है और पुद्गल विनश्वर है । इसलिए चाहे जितना प्रयत्न करे, अंत में भव पूरा होते ही ये सुख के साधनों का अवश्य वियोग होने वाला ही है । न चाहने पर भी ये सभी सुख के साधन हमें छोडने ही पडते है ।

इसलिए शक्ति और सामर्थ्य हो तो सबसे पहले तो संसार का क्षणिक सुख त्याग ही करने जैसा है, क्योंकि यह निःसार और परम दुःखदायी है । परंतु यदि इतनी शक्ति और सामर्थ्य न हो तो कम-से-कम इस सुख को पाने की जो अंधी दौड में दौड रहे है, उसे तो छोडना ही होगा ।

अपने सुख को पाने के लिए जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप हो रहे है, उस पर रोक लगानी ही पड़ेगी । सुख की दिवानगी में अन्य के सुख की ईर्ष्या, उसे दुःखी करने के लिए छल-कपट, आरोप-प्रत्यारोप जैसे नीच कार्यों को छोडने का निश्चय तो करना ही होगा ।

जब सुख पाने की तडपन मिटेगी तभी आये हुए दुःख का सहर्ष स्वीकार हो सकेगा । जब तक दुःख के सहर्ष स्वीकार की भावना नहीं जगेगी तब तक चाहे कितना भी दुःख सहन करे, दुःखों का अंत नहीं होगा । दुःख अस्वीकार की भावना ही आर्त्तध्यान है और दुःख का सहर्ष स्वीकार ही धर्म ध्यान है । अतः जीवन की दशा न बदल सके तो कम से कम दिशा तो बदलनी ही होगा ।

भौतिक सुख ही दुःखों का मूल है

यत् कृत्रिमं वैषयिकादि सौख्यं,
भ्रमन् भवे को न लभेत मर्त्यः ।
सर्वेषु तच्चाधममध्यमेषु,
यद् दृश्यते तत्र किमद्भुतं च ॥17॥ (उपजाति)

शब्दार्थ

यत्=जो,
कृत्रिमं=नकली,
वैषयिकादि सौख्यं=पांच इन्द्रिय के अनुकूल विषय से प्राप्त होने वाला सुख,
भ्रमन्=भटकते हुए,
भवे=संसार में,
को=कौन,
न=नहीं,
लभेत=प्राप्त करता है,
मर्त्यः=मनुष्य,
सर्वेषु=सभी,
तत्=उस,
अधममध्यमेषु=अधम और मध्यम में,
यद्=जो,
दृश्यते=देखा जाता है,
तत्र=वहाँ,
किम्=क्या,
अद्भुतं=आश्चर्य है,
च=और ।

गाथार्थ

संसार में परिभ्रमण करते हुए किस मनुष्य ने पांच इन्द्रियों के विषय जन्य नकली सुख को प्राप्त नहीं किया है ? (अर्थात् सभी ने किया है ।) यह विषय सुख (पशु-मनुष्य और देव रुप) अधम, मध्यम और उत्कृष्ट, सभी जीवों में देखा जाता है, तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

विवेचन

अनंत काल से चारों गतियों में परिभ्रमण करती हुई हमारी आत्मा ने सभी प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव अनंती बार किया है । सुख की अपेक्षा दुःख का काल खूब लम्बा रहा है । तुलना की जाय तो अमावस्या की काली रात में बिजली की चमक जितना काल ही मात्र सुख का रहा है, शेष सभी काल दुःख में बीता है ।

फिर भी संसार के सभी सुखों का अनुभव हमने अनंत बार किया है, क्योंकि भूतकाल ही इतना लंबा बीता है । भवचक्र में इतने दुःख सहन करने का एक मात्र कारण वैषयिक सुख है । यह सुख ही लम्बे काल तक दुःख देता है । इसीलिए इस सुख को नकली होने का कलंक दे रहे है ।

अपनी आत्मा को जागृत करने के लिए पूर्वाचार्य महर्षि हमें कह रहे है कि मनुष्य के द्वारा इस जन्म में पाये हुए सभी प्रकार के सुखों को देखकर आश्चर्य चकित होने जैसा नहीं है, क्योंकि यह सुख ही सभी दुःखों का मूल कारण है ।

प्रश्न : सुख ही दुःख का कारण कैसे हो सकता है ?

उत्तर : सुख में व्यक्ति अपना होश खो बैठता है । वह किसी की परवाह नहीं करता है । अपने से हीन व्यक्ति का अपमान करता है और अभिमान के नशे में चकचूर बनता है । विनय, नम्रता, सरलता, संतोष, क्षमा आदि गुणों को छोडकर, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि दोषों का आश्रय करता है ।

इन दोषों के कारण व्यक्ति देव-गुरु धर्म को भी नहीं मानता है । कदाचित् माने तो भी उनकी आज्ञा का पालन नहीं करता है । जन्म और जीवन दात्री माता-पिता की बातों को भी नहीं मानता है । चलना और बोलना सिखाने वाले उपकारी माता-पिता को बैठ जाना और चुप रहना सिखाता है ।

इन दोषों से दोषित बनी आत्मा अपार पापकर्मों का बंध करती है । इन पाप कर्मों के कारण आत्मा को नरक और तिर्यंच गति में अपार दु:खों को सहन करना पडता है । जीवन भर नहीं, दस-पंद्रह वर्ष नहीं, साल-दो साल नहीं, लेकिन चंद क्षणों के लिए अनुभव किया हुआ सुख जीव को दीर्घकाल तक अवश्य दु:ख देता है ।

चतुर दासी

◆ एक बार राजमहल में सफाई करने वाली एक दासी अतिश्रम के कारण थक गई थी । उसने राजा के शयन कक्ष में पलंग खाली देखा । सोचा, दस मिनट आराम कर लूं तो किसे पता चलेगा ? वह जाकर पलंग पर सो गई । मुलायम और कोमल शय्या पर उसे गहरी नींद आ गई । दस मिनट की जगह दो घंटे निकल गए । राजा ने शयन कक्ष में प्रवेश किया तो दासी को पलंग पर सोयी हुई देखा । उसे गुस्सा आ गया । अपनी शय्या का अपमान देखकर उसे जेल में डलवाया ।

दूसरे दिन राजसभा में उसे लाया गया । इस अपराध के लिए राजा ने 100 हंटर मारने की आज्ञा दी । दासी अपनी सजा सुनकर हंसने लगी । उसे हँसते हुए देखकर राजा को आश्चर्य हुआ । उसे हँसने का कारण पूछा । उसने पूरी सभा को जागृत करने के लिए कहा-**``हे राजन् ! मैं तो मात्र दो घंटे पलंग पर सोयी थी तो मुझे 100 हंटर मार की सजा हुई, आप तो रोज घंटों इस पलंग पर सोते है, आपको कितनी सजा होगी ?**

प्रश्न : स्वयं तीर्थंकर भगवान भी परमोच्च सुख का अनुभव करते है और हमें सभी सुखों के त्याग का मार्ग बताते है । स्वयं सुवर्ण कमलों पर चलते है और हमें खुल्ले पैर चलने का मार्ग बताते है । स्वयं सुवर्ण के सिंहासन पर बैठते है और हमे पूर्णत: सुवर्ण के त्याग का उपदेश देते है ।

उनके दोनों ओर इन्द्र महाराजा चामर से भक्ति करते है और हमें कितनी भी गर्मी हो तो पंखा तो दूर रहो, कपडे से भी हवा करने का निषेध करते है । स्वयं इतने भोग-सुख के बीच में बैठे होने पर भी वे इतना कठिन त्याग मार्ग क्यों बताते है ?

उत्तर : वाह विद्वद्व शिरोमणि ! वाह तुम्हारी तर्क शक्ति ! आपने तो भगवान को भी नहीं छोडा ! तीर्थंकर परमात्मा की ऋद्धि-समृद्धि के साथ अपने सुख की तुलना करके आपने अपने मन में रही सुख की चाह को प्रकट किया है ।

हा ! तीर्थंकर भगवान सर्वोच्च सुख का अनुभव जरुर करते है, परंतु वे निर्लेप होने के कारण उन्हें शाता वेदनीय कर्म के अलावा अन्य किसी प्रकार के कर्म का बंध नहीं करते है । इसलिए सुवर्ण कमल, सुवर्ण सिंहासन, इन्द्र की भक्ति यावत् देवताओं के दिव्य नाटक भी उनके मन में आंशिक भी आकर्षण पैदा नहीं करते है ।

मोहनीय आदि चारों घाति कर्मों के अभाव में उन्हें पुनः किसी भी प्रकार के दुःख का अनुभव करना नहीं पडता । अपना आयुष्य पूर्ण होते ही वे समस्त सुख-दुःख से मुक्त होकर परमानंद मोक्ष पद को प्राप्त कर लेते है ।

स्वयं जिस परमानंद सुख का अनुभव करते है, वही अनुभव जगत् के सभी जीवों को प्राप्त हो इसीलिए वे इतने कठिन त्याग मार्ग का स्वयं आचरण करते है फिर सभी जीवों को उस त्याग मार्ग का उपदेश देते है । जन्म से लेकर दीक्षा स्वीकार करने तक उन्हें अंश मात्र भी अशाता का अनुभव नहीं होता है । **पानी मांगे तो दुध मिले और दुध मांगे तो अमृत मिलें ऐसे शिरमोर सुख का वे अनुभव करते है ।**

जन्म होने मात्र से ही 64 प्रकार के इन्द्र उनके चरण चुमने लगते है । **ऐसी सुख सामग्री को छोडकर सभी तीर्थंकर अवश्य ही दीक्षा धर्म का स्वीकार करते है ।** राजमहलों को छोडकर भयंकर जंगलों में साधना करते है ।

केवलज्ञान की प्राप्ति न होने तक अधिकतम निर्जल उपवास, मौन एवं कायोत्सर्ग की साधना करते है । फिर केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर 64 इन्द्र एवं असंख्य देवता प्रतिपल उनकी भक्ति करते है । देवनिर्मित चांदी, सोना और रत्न के तीन गढ स्वरुप समवसरण में बैठकर प्रतिदिन दो प्रहर धर्मदेशना के माध्यम से जगत् को सुख का मार्ग बताते है । उन्हें हमारे सुखों की ईर्ष्या नहीं थी कि वे इतना कठोर त्याग मार्ग बताए ।

प्रश्न :- वाह रे वाह ! एक ओर आप सुख को ही दुःख का मुख्य कारण बताते हो और दूसरी ओर परमात्मा स्वयं समवसरण में बैठकर प्रतिदिन दो प्रहर अपनी धर्मदेशना के द्वारा सुख का मार्ग बताते है । क्या ये दोनों विरोधी बातें नहीं है ?

उत्तर : धन्यवाद ! आपकी सूक्ष्म प्रज्ञा को लाख बार नमन है । सुख की चाह में आप असली और नकली सुख की भेद रेखा को भूल गए ।

सुख के भी दो प्रकार है (1) सांसारिक सुख और (2) मुक्ति सुख ।

(1) सांसारिक सुख – जो सुख आत्मा को अपने आत्मिक भाव से दूर करके बाह्य पौद्गलिक भावों से जोडता है, वह सांसारिक सुख है । इस सुख का मुख्य केन्द्र शरीर है । प्राप्त हुए शरीर को थोडा भी दुःख न हो, इस चिंता के साथ पांच इन्द्रिय के विषय भोगों की सामग्री को पाने की अंधी दौड में दिन-रात चारों कषायों का सेवन करके आत्मा भयंकर पाप कर्मों का बंध करती है । ऐसा जो सांसारिक सुख है, वह आत्मा के लिए दुःखदायी है । परमात्मा अपनी धर्म देशना में ऐसे नकली सुख को छोडने का उपदेश देते है ।

(2) मुक्ति सुख – जो सुख आत्मा को अपने आत्मिक गुणों के माध्यम से प्राप्त होता है, वह मुक्ति सुख है । इस सुख का मुख्य केन्द्र आत्मा है । आत्मा के माध्यम से ही आत्मा को यह सुख प्राप्त होता है । जब आत्मा अपने आत्मिक पुरुषार्थ से भूतकाल में बंधे हुए सभी कर्मों को

नष्ट करती है, तब आत्मा शरीर आदि सभी बंधनों से मुक्त हो जाती है। इस सुख का स्थान संसार नहीं, बल्कि मोक्ष है।

संसार का सुख चाहे जितना प्राप्त कर लो, एक दिन वह अवश्य सुख पूरा हो जाएगा। **पुनः दुःख के गर्त में आत्मा को अपार दुःखों का अनुभव करना पडता है।** जबकि एक बार आत्मा ने मुक्ति सुख प्राप्त कर लिया तो वह सुख अनंतानंत काल में लेश भी कम होनेवाला नहीं है।

संक्षेप में कहे तो सांसारिक सुख प्रारंभ में सुखदायी है परंतु अंत में अत्यंत दुःखदायी और परिणाम में अनंत काल तक दुःख की परंपरा देने वाला है।

मुक्ति सुख प्रारंभ से ही अति सुखदायी है, जो अनंत काल तक रहने वाला है।

इसलिए तीर्थंकर परमात्मा संसार के नकली सुखों को छोडकर आत्मा के अनंत सुख प्राप्त करने के लिए समवसरण में बैठकर प्रतिदिन दो प्रहर धर्मदेशना देते हैं।

जब तक आत्मा का मोक्ष नहीं होता है, तब तक संसार का अल्प सुख भी आत्मा के लिए घातक और दुःखदायी ही है। **इस सत्य को स्वीकार किये बिना सुख के प्रति रहा आकर्षण दूर नहीं होगा। छोटे-बडे सभी सुख के साधन हमें आकर्षित करते ही रहेंगे।** और वह आकर्षण मात्र सुख के भोग बिना भी पाप कर्म का बंध कराने वाला होगा। सुख के साधनों की आसक्ति भी दुःखदायी बनती है।

आचार्य श्री सुमंगलाचार्य

वर्षों तक कठोर संयम पालन करने से पूज्य आचार्य श्री सुमंगलाचार्य का शरीर जीर्ण हो गया था। **कमर के भाग की नसें दबने के कारण**

सीधा खडा होना या लेटकर सोना भी उन्हें दुःखदायी लगता था । पैर को सिकुडकर सोना या बैठना उनको शाता दायी था । ऐसी स्थिति में किसी भक्त से याचना कर उन्होंने एक कमरपट्टा बांध लिया । उस कमर पट्टें को बांधकर रखने से उन्हें आराम होने लगा ।

अब दिन रात उस कमरपट्टे को बांधकर रखने लगे । कदाचित् उस कमरपट्टे को उतारे तो भी अपने पास ही रखते थे । धीरे-धीरे कमरपट्टे से होनेवाली अनुकूलता आसक्ति में बदलने लगी, जो वे स्वयं भी न समझ सके । वृद्धावस्था में शरीर क्षीण होने लगा और कमरपट्टे के कारण प्राप्त हो रही अनुकूलता उन्हें शातादायी लगने लगी ।

अब वे मरणासन्न स्थिति पर थे । शिष्यवर्ग उनकी सुंदर वैयावच्च-भक्ति कर रहा था । उनके द्वारा नियुक्त पट्टधर आचार्य उनको अंतिम निर्यामणा करा रहे थे । आहार, शरीर, उपधि आदि को वोसिराते हुए अंत में उनको कमरपट्टे को छोडने की बात कही । परंतु वह कमरपट्टा अनुकूल और शातादायी होने से उन्होंने इन्कार कर दिया । कमरपट्टे को वोसिराये बिना उनका कालधर्म हो गया ।

अपने गुरुदेव के कालधर्म से शिष्यवर्ग संसार की असारता और अनित्यता जानकर अधिकाधिक वैराग्य भाव से वासित हो गया । विशेष कर पट्टधर आचार्य, जिनके मन में अपने गुरुदेव के कमरपट्टे नहीं वोसिराने का सबसे ज्यादा दुःख था । अब वे अपनी आत्मसाधना में अधिक जागृत बन गए । कुछ वर्षों के बाद तीव्र साधना के बल पर उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

अवधिज्ञान के प्रकाश में उन्होंने अपने उपकारी गुरुदेव के आगामी भव को देखने का उपयोग लगाया । उन्होंने देखा-**``कमरपट्टे की आसक्ति के कारण उनका जन्म अनार्य देश में राजकुमार के रुप में हुआ है । जन्म के साथ ही वे विकलांग है एवं कमर के भाग में कमरपट्टे का निशान है ।''**

अपने गुरुदेव की इस हालत को देखकर शिष्यमुनि का हृदय काँप उठा । अब उन्हें प्रतिबोध करके अपने गुरुदेव का उपकार चुकाने के लिए वे प्रयत्नशील बने । कुछ सुमधुर संगीत के ज्ञाता मुनियों को लेकर अनार्य देश में पहुँचे । वहाँ की प्रजा मांसाहारी होने से चार महिने तक सभी मुनियों ने उपवास करते हुए राजपुत्र को आकर्षित किया ।

पहले राजमहल में और फिर अपने उपाश्रय में लाकर राजकुमार को संगीत के बहाने से साध्वाचार से परिचय कराया । साधुओं के साध्वाचार को देखते हुए राजकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हुआ । उन्होंने अपने पूर्व भव को साक्षात् देखा । उन्हें अपनी भूल ख्याल आयी । अब वर्तमान को साधकर भविष्य काल को सुधारने का निर्णय लिया ।

आगे चलकर आचार्य भगवंत ने राजा की अनुमति लेकर उन्हें आर्यदेश में ले आये । दीक्षा देकर आजीवन उनकी सेवा की, उन्हें सन्मार्ग में स्थिर किया ।

जब इतनी ऊपर उठी आत्मा को भी कर्मसत्ता विकलांग अवस्था और अनार्थ देश में धकेल कर दु:ख के दिन दिखा सकती है, तब अपनी तो क्या हालत होगी ?

अत: चाहे कितने भी सुख के प्रलोभन दिखे, उसमें कुछ भी आश्चर्य करने जैसा और उसे पाने की इच्छा करने जैसी नहीं है । मात्र मुक्ति सुख को पाने का लक्ष्य दृढ करना है ।

भोगी और योगी की भेद रेखा

क्षुधातृषाकामविकाररोष-
हेतुं च तद्भेषजवद् वदन्ति ।
तदस्वतन्त्रं क्षणिकं प्रयासकृद्,
यतीश्वरा दूरतरं त्यजन्ति ।।18।। (उपजाति)

शब्दार्थ

क्षुधा=भूख,
तृषा=प्यास,
कामविकार=विषय विकार,
रोष=क्रोध,
हेतुं=कारण को,
च=और,
तद्=उसे,
भेषजवद्=औषध रुप,
वदन्ति=कहते है,
अस्वतन्त्रं=पराधीन,
क्षणिक=क्षण विनश्वर,
प्रयासकृद्=परिश्रम जन्य,
यतीश्वरा=श्रेष्ठ योगी पुरुष,
दूरतरं=दूर से ही,
त्यजन्ति=त्याग करते है ।

गाथार्थ

दुनिया के लोग भूख-प्यास, विषय विकार एवं क्रोध के कारण रुप वैषयिक सुखों को औषध रुप कहते है । परंतु यह वैषयिक सुख पराधीन, क्षण विनश्वर और परिश्रम जन्य होने से श्रेष्ठ साधक योगीपुरुष दूर से ही इसका त्याग करते है ।

विवेचन

संसार और मोक्ष दोनों की दिशा अलग-अलग है । संसार रसिक जीव को भोग सुख का मार्ग पसंद आता है, जबकि मोक्ष रसिक जीव को त्याग का मार्ग पसंद आता है ।

इन दोनों के मार्गों में जो भेद रेखा है, वह ग्रंथकारश्री इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट कर रहे है कि– **''जिसे भोग सुख का मार्ग पसंद है वह भूख-प्यास, काम विकार और क्रोधादि कषायों के कारणों को औषध की तरह अच्छा मानते है, जबकि जिसे मोक्ष का मार्ग ही पसंद है वह इन्हें पराधीन, क्षण विनश्वर और परिश्रम जन्य मानकर दूर से ही त्याग कर देता है ।''**

आत्मा का मूलभूत स्वभाव अणाहारी, अवेदी और अकषायी है । परंतु कर्मों के बंधन के कारण आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध जुडा है । इस शरीर के निर्माण एवं संवर्धन के लिए संसारी जीव को आहार लेना पडता है ।

तथा विभिन्न गतिओं में कर्मों के कारण वेदजन्य काम विकार एवं क्रोधादि कषायों में अपने आत्मिक भाव से च्युत होना पडता है । आहार, काम विकार और क्रोध करना ये आत्मा के स्वभाव नहीं बल्कि विभाव है । कर्मों के कारण पैदा हुई विकृति है । परंतु विषय और कषाय से पैदा हुए सुखों में आसक्त बने मोहांध जीव भूख-प्यास को, काम विकार को और क्रोधादि के जो कारण है, उन कारणों को शांत करने का उपाय ढुंढकर उन्हें पूरा करने में प्रयत्नशील रहते है ।

भूख के रोग को शांत करने के लिए भोजन, प्यास के रोग को शांत करने के लिए पानी, काम विकार के रोग को शांत करने विषय भोग का सेवन करना और क्रोध रुपी रोग को शांत करने के लिए दूसरों को दबाना, आक्रोश करना, मारपीट आदि करना ।

अपने मन में रहे क्रोध को शांत करने के लिए जिस व्यक्ति के प्रति क्रोध पैदा हुआ हो उसका पुतला बनाकर जलाना, उसकी तस्वीर जलाना, उस पर चप्पल की माला पहनाना एवं उसका दुष्प्रचार करते हुए प्रदर्शन किये जाते है । कइ जगह तनाव मुक्ति के लिए व्यक्ति का पुतला बनाकर उसकी पिटाई करना, फर्निचर आदि सामान तोडना, मोबाईल, कम्प्युटर आदि तनाव के कारण भूत साधन सामग्री की तोड-फोड करने की प्रवृत्ति भी होती है ।

संसार रसिक आत्माएँ इनको औषध के समान समझते है । वे मात्र मन में पैदा होने वाली इच्छा की पूर्ति में ही सुख की कल्पना करते है । परंतु इच्छा आकाश के समान अनंत है, जिसका कभी अंत नहीं आता है ।

प्रश्न :– भले ही इच्छाओं का अंत ना आये, परंतु इच्छा पूर्ण हो तो ही मन को शांति प्राप्त होती है । अन्यथा तनाव के कारण मन बेचैन रहता है । अतः जगी हुई इच्छा की पूर्ति में ही सुख का अनुभव होता है, तो फिर इच्छा पूर्ण करने में तकलीफ क्या है ?

उत्तर : इच्छा पूर्ण होने पर मन में होनेवाली शांति वास्तव में शांति नहीं बल्कि शांति का भ्रम मात्र है । योगशास्त्र ग्रंथ में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है–

स्त्री सम्भोगेन यः, कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितु-मिच्छति ।।8।। (द्वितीय प्रकाश)

अर्थात्– स्त्री के साथ संभोग करके जो अपने काम रुपी बुखार का प्रतिकार करना चाहता है, वह वास्तव में घी की आहूति से अग्नि को बुझाने की इच्छा करता है ।

मन में पैदा होने वाली भौतिक सुख की इच्छा आग के समान है । **आग में घी डालने से पलभर के लिए हमें लगता है कि आग थोडी शांत हो गई है, परंतु दूसरे ही पल वह आग और ज्यादा भडक**

उठती है । वैसे ही मन में पैदा हुई इच्छा को पूर्ण करने के लिए चाहे कितने भी भोग करे, मन कभी तृप्त नहीं होता है । तृप्ति तो दूर की बात है, पूर्ण होने पर मन की इच्छाएँ अधिक-अधिक बढती है । चाहे कितने भी सुख के साधन प्राप्त हो, मन कभी तृप्त नहीं होता है ।

इन्द्रिय पराजय शतक ग्रंथ में भी कहा है–

देविंदचक्कवट्टित्तणाइ रज्जाइ उत्तमा भोगा ।
पत्ता अणंतखुत्तो, न य हं तत्तिं गओ तेहिं ।।17।।

संसार-चक्कवाले सव्वे वि अ पुग्गला मए बहुसो ।
आहरिया य परिणामिआ य, न य तेसु तत्तोहं ।।18।।

अर्थात्–जीव ने देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि राज्यादि उत्तम भोगसुख अनंतीबार प्राप्त किया है, परंतु इनसे कभी तृप्ति नहीं हुई है । संसार चक्र में सभी पुद्गलों को इस जीव ने अनंतीबार भोगे है (खाये है) फिर भी यह जीव कभी तृप्त नहीं हुआ है ।

अतः भोग के द्वारा इच्छापूर्ति में नहीं बल्कि इच्छामुक्ति में ही सच्चा सुख रहा हुआ है ।

मोक्ष रसिक आत्माएँ इच्छापूर्ति में नहीं बल्कि इच्छामुक्ति को ही परम पद का उपाय मानती है ।

ग्रंथकारश्री ने भी मोक्षलक्षी आत्माओं के मनोभावों को जानकर भौतिक सुख में रहे तीन दोष को बताये है–

1) पराधीनता=संसार में जितना भी पौद्गलिक सुख है, सभी में पराधीनता है । कोई भी सुख ऐसा नहीं है जिसमें किसी न किसी पदार्थ या व्यक्ति की गुलामी न करनी पडे ।

❑ भोजन का सुख पाना हो तो सबसे पहले भोजन की सामग्री, उसे बनाने के लिए ईंधन, उसे बनाने की प्रक्रिया को जाननेवाला व्यक्ति आदि

इन सभी का सुमेल होना आवश्यक है । **यदि धान्य आदि कोई भी एक सामग्री बराबर न हो, तो भोजन का सुख प्राप्त नहीं हो सकता है ।**

साथ ही भोजन करने से पहले पेट में भूख का दुःख होना, शरीर निरोगी होना, मन स्वस्थ होना, किसी भी प्रकार की चिंता या दुःख न होना आदि परिस्थितियाँ होना भी खूब जरुरी है । यदि ऐसा न हो तो भोजन की सुंदर सामग्री मिलने पर भी वह हमे अंश मात्र भी सुख नहीं दे सकती है ।

❑ **पानी का सुख पाना हो तो भी सबसे पहले मीठे पानी की आवश्यकता रहती है । वह पानी भी अति ठंडा या अति गर्म नहीं होना चाहिए । साथ ही वातावरण के अनुकूल होना चाहिए, अर्थात्–सर्दी के दिन में कुछ गर्म पानी और गर्मी के दिन में ठंडा पानी होना चाहिए ।**

❑ काम विकार का सुख पाने के लिए स्त्री, कोमल शय्या आदि परिस्थिति अनुकूल होना जरुरी है ।

❑ **क्रोध का सुख पाने के लिए हमारे क्रोध को सहन करे ऐसा नम्र, विनयवान पात्र आदि सामग्री जरुरी होती है, अन्यथा हमारे क्रोध करने पर वह सामने से आक्रोश करे तो हमारा ही क्रोध हमारे दुःख का कारण बन जाता है ।**

अंत में कहे तो संसार के सभी सुख पुण्य के अधीन है । यदि पुण्य का साथ है, तो व्यक्ति भौतिक सुख प्राप्त कर सकता है, अन्यथा प्राप्त हुए सुख का भी अनुभव नहीं कर सकता है ।

2) क्षणिक – पराधीनता के साथ साथ संसार के सभी सुख क्षणिक है । पुद्गल का स्वभाव क्षण क्षण में बदलता रहता है, अतः उससे प्राप्त होने वाला सुख भी क्षण क्षण में बदलता है । चाहे भोजन का सुख हो या विषय भोग का सुख हो, शारीरिक क्षमता की अल्पता के कारण किसी भी सुख का भोग ज्यादा समय तक सतत नहीं किया जा सकता है । **सुख का साधन थोडी ही देर में विकृत हो जाता है और अपना पर्याय बदल देता है ।**

साथ ही मानवीय मन की कमजोरी भी है कि वह एक ही विषयभोग ज्यादा समय तक नहीं कर सकता है। रोज एक ही मिठाई, एक ही नमकीन या एक समान स्वाद भी व्यक्ति को उद्विग्न कर देता है। अतः क्षण विनश्वर सुख के साधनों में लम्बे काल तक सुख प्राप्ति की आशा कैसे कर सकते है ?

3) परिश्रम जन्य – भौतिक सुखों के साधनों को पाने के लिए संसार में खूब मजदूरी करनी पडती है। **कदाचित् पूर्वजन्म के पुण्य से अपार संपत्ति प्राप्त हुई हो तो भी प्राप्त हुई संपत्ति का रक्षण करने में परिश्रम करना ही पडता है ।**

संसार के सुख का अनुभव करने से भी उसे पाने और संरक्षण करने में अतिदुःख का अनुभव होता है। न जाने कितने संकल्प-कुविकल्प और दुर्ध्यान संसार के सुख को पाने के लिए करने पडते है, इनसे पैदा होने वाला पाप आत्मा को भयंकर दुःख प्रदान करता है।

बकरा और गाय का बछडा

अपनी अंतिम धर्मदेशना में भगवान श्री महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें औरभ्रीय अध्ययन में बकरे और गाय के बछडे का दृष्टांत देकर संसार के सुखों की भयंकरता समझायी है–

एक कसाई के घर में अनेक पशुओं के साथ गाय का बछडा तथा बकरी का बच्चा बकरा भी था। **वह कसाई बकरे को हरा-भरा घांस खिलाता था, जबकि गाय के बछडे को सुखा घास देता था ।** इस भेदभाव को देखकर गाय के बछडे को ईर्ष्या होती थी। एक बार उसने अपनी माँ से कहा-**''माँ ! अपना मालिक हमसे इतना भेद-भाव क्यों रखता है ? वह बकरे को हरा-भरा घास खिलाता है और मुझे बिल्कुल सुखा घास देता है।''**

गाय ने कहा-**''बेटा ! चिन्ता मत करो। कुछ ही दिनों में तुझे इसका रहस्य ख्याल में आ जाएगा।''**

कुछ दिनों बाद उस कसाई के घर महेमान आए । तुरंत ही कसाई ने घर में रहे हष्ट-पुष्ट बने उस बकरे को मौत के घाट उतार दिया । उसके मांस से सभी अतिथियों को मिजवानी दी ।

यह दृश्य बतलाते हुए गाय ने बछडे को कहा, बेटा ! देखा, हरा घास खाने का परिणाम !, **माँ की बात सुनकर बछडा एकदम घबरा गया । अब उसे सुखे घास खाने में भी मौत का भय सताने लगा ।**

इस कथा का उपनय करते हुए परमात्मा कहते है-**महान् पुण्योदय से हमें धर्म की सामग्री प्राप्त हुई है, फिर भी यदि हम आहार आदि भौतिक सुखों में आसक्त बन जाते है, तो हमारी हालत उस बकरे की तरह ही होगी । यहाँ के क्षणिक सुखों को भोगकर दुर्गति में दीर्घकाल तक नरक और तिर्यंच गति के भयंकर दुःखों को सहन करना पडता है ।**

इसलिए योगी पुरुष अपनी आत्मसाधना में लीन होने के लिए सबसे पहले आहार आदि की प्रवृत्तिओं पर संयम करते है ।

❑ **सभी तीर्थंकर परमात्मा अपने साधना काल में केवलज्ञान की प्राप्ति तक अधिकाधिक निर्जल उपवास की आराधना करते है । एक दिन में दो बार से अधिक भोजन नहीं करते है ।**

❑ तीर्थंकर नाम कर्म की निकाचना करने के लिए चरम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी की आत्मा ने पूर्व के तीसरे नंदन ऋषि के भव में एक लाख वर्ष तक मासक्षमण के पारणे मासक्षमण का तप किया था । अपने संयम जीवन में कभी निद्रा आदि प्रमाद नहीं किया था एवं अपने संयम जीवन का अधिकांश समय कायोत्सर्ग और ध्यान की साधना में ही व्यतीत कर तीर्थंकर नाम कर्म निकाचित किया था ।

❑ **आज भी महाविदेह क्षेत्र में रहे अधिकतम साधक आत्माएँ दिनरात कायोत्सर्ग ध्यान में लीन रहकर निरंतर सूत्र अर्थ का**

स्वाध्याय करती रहती है । जिनकल्प की साधना करने वाले एवं प्रतिमाधारी साधु दिन रात के आठ प्रहर में से मात्र दिन के एक तीसरे प्रहर में आहार–विहार एवं निहार करते है, शेष काल में मात्र कायोत्सर्ग की साधना करते है ।

▫ मात्र महाविदेह या चौथे आरे में नहीं बल्कि इस पंचम काल में भी **श्री स्थूलभद्र महामुनि** के साथ रहे तीन महात्मा–सिंहगुफावासी मुनि, सांप के बिल के पास रहे मुनि और कुए की पाल पर रहे मुनि– चार चार महिने तक उपवास करने के साथ कायोत्सर्ग की साधना में दिन-रात स्थिर रहते थे ।

काल के प्रभाव से वर्तमान में हमारी शारीरिक स्थिति इतनी सशक्त नहीं है कि हम इतनी दीर्घ और कठोर साधना कर सके । फिर भी कम से कम हमारे जीवन को संयमित तो अवश्य कर सकते है । आज भी आजीवन आयंबिल तप की आराधना के संकल्पी साधु-साध्वी के आदर्श विद्यमान है ।

अतः इन आदर्शों को केन्द्र में रखकर हम त्याग के मार्ग में आगे बढ सकते है । पूर्व के महामुनि उपवास के द्वारा अनशन तप की आराधना करते थे । हम कम से कम उणोदरी, वृत्ति संक्षेप और रस त्याग करने के द्वारा आहार में रही रसना की आसक्ति को घटाने का प्रयत्न तो कर सकते है ।

पांच इन्द्रिय के विषयों को पूर्णतया त्याग न करे तो कम से कम नियंत्रण तो कर ही सकते है । क्रोधादि कषायों का संपूर्ण त्याग न कर सके, तो कम से कम क्षमापनादि के उपायों से कषायों को कमजोर तो अवश्य कर सकते है ।

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 271 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	Pearls of Preaching	60/-	38.	विविध देववंदन	100/-
2.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	39.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
3.	अमृत रस का प्याला	300/-	40.	लघु संग्रहणी	140/-
4.	ध्यान साधना	40/-	41.	समाधि की साधना	300/-
5.	शंका समाधान (भाग-5)	160/-	42.	New Message for a New Day	600/-
6.	शत्रुंजय यात्रा	40/-	43.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
7.	शत्रुंजय की भाव यात्रा	230/-	44.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
8.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-	45.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-
9.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	46.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-
10.	प्रवचन का अमृत	200/-	47.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-
11.	पर्युषण अष्टानिका प्रवचन	120/-	48.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-
12.	गणधर-संवाद	80/-	49.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-
13.	आओ ! उपधान पौषध करें !	130/-	50.	नित्य देववंदन	निशुल्क
14.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-	51.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
15.	संस्मरण	50/-	52.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (भाग:-1)	1170/-
16.	आध्यात्मिक पत्र	60/-	53.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (भाग:-2)	1040/-
17.	चिंतन का अमृत कुंभ	80/-	54.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (भाग:-3)	900/-
18.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-1)	210/-	55.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (भाग:-4)	1270/-
19.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-2)	220/-	56.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
20.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-3)	125/-	57.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
21.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-4)	135/-	58.	योग की आठ दृष्टियाँ	430/-
22.	विवेकी बनो	90/-	59.	10 श्रमण-धर्म	250/-
23.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-	60.	साचा माणस बनीए ! (गुजराती)	300/-
24.	प्रवचन-वर्षा	60/-	61.	शुभ-संदेश	250/-
25.	आओ श्रावक बनें !	25/-	62.	भक्ति से मुक्ति	200/-
26.	व्यसन-मुक्ति	100/-	63.	सहनशील बनों (22 परीषह)	180/-
27.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	64.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	350/-
28.	महावीर प्रभु की पट्टधर परंपरा 58-80	280/-	65.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	300/-
29.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	66.	नवकार-प्रवचन	180/-
30.	समाधि मृत्यु	80/-	67.	जीवन-प्रसंग	360/-
31.	तीन भाष्य	150/-	68.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
32.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-	69.	समाधि मृत्यु	80/-
33.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-	70.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
34.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-	71.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
35.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-	72.	श्रमण-हितशिक्षा	250/-
36.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-	73.	हृदय प्रदीप (भाग-1)	260/-
37.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-			

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299